संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-46, अप्रैल-जुलाई 2003

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001
फोन: 07574 – 253518
eklavyamp@mantrafreenet. com
eklavyah@sify.com

एक प्रति: 15 रुपए
वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 75 रुपए
आजीवन सदस्यता: व्यक्तिगत 1000 रुपए
संस्थागत 2000 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ एवं पीछे का आवरण: इस फोटोग्राफ में पृथ्वी की सर्वोच्च चोटी 8848 मीटर ऊंची – माउंट एवरेस्ट – पिछले आवरण पर दिख रही है। मुखपृष्ठ पर एकदम दाहिने कोने में उससे थोड़ी ही बौनी 8501 मीटर ऊंची 'ल्होत्से' और इन दोनों के बीच 7879 मीटर ऊंची 'नुप्तसे' की ऊबड़-खाबड़ सी दिख रही पहाड़ियां।
ये फोटोग्राफ ल्कोचुंबा ग्लेशियर के बाईं ओर से योशिकाज़ु शिरोकावा द्वारा 1969 के नए साल के पहले दिन खींचा गया था। सूर्यास्त की ढलती रोशनी में माउंट एवरेस्ट एवं उसके आसपास की चोटियां अद्भुत लाल सुर्ख रंगों में चमक रही हैं।

*इस अंक में चित्र निम्न किताबों से: **बायोलॉजिकल साइंस:** विलियम टी. कीटन, जेम्स एल. गूल्ड; प्रकाशक: डब्लू. डब्लू. नॉरटन एंड कम्पनी, न्यूयॉर्क। **नो योअर बॉडी:** प्रकाशक: मार्शल केवेंडिश,लंदन। **इलस्ट्रेटेड इन्सायक्लोपीडिया ऑफ डिस्कवरी एंड एक्सप्लोरेशन:** प्रकाशक: मार्शल केवेंडिश कॉर्पोरेशन। **एनीमल बीहेवियर:** जॉन एलकॉक; प्रकाशक: सिनाउर एसोसिएट्स, संदरलेंड। **लेट्स लर्न मेथेमेटिक्स कक्षा–1:** वी.पी. गुप्ता, ईश्वर चंद्रा; प्रकाशक: एन.सी.ई.आर.टी. नई दिल्ली। **द बुक ऑफ पापुलर साइंस;** प्रकाशक: ग्रोलियर इनकॉर्पोरेटेड,न्यूयॉर्क। **हिमालय:** योशिकाज़ु शिरोकावा; प्रकाशक: हैरी एब्राम, न्यूयॉर्क।*

The result of innovative brand management, cutting edge technology and investment in our people.

The rewards?

Customers who are delighted.
Relationships built and sustained.
A work force that is result oriented.

As a Corporation, what next?

Innovating. Competing. Performing.
To deliver. To enhance stakeholder value.
To stay Ahead!

इस साल एवरेस्ट विजय के 50 साल पूरे हो गए हैं। वैसे तो इंसानों की पहाड़ों में गहरी रुचि रही है लेकिन पर्वत चोटियों पर चढ़ना और देश का झंडा गाड़ने का सिलसिला कुछ दो सौ साल पुराना है। औपनिवेशिक राज के दौरान भारत में भौगोलिक सर्वेक्षणों की नींव पड़ी, हिमालय क्षेत्र के कई भौगोलिक तथ्यों से लोग वाकिफ हुए। इन्हीं तथ्यों में से एक था माउंट एवरेस्ट का सबसे ऊंची चोटी होना। इस सर्वोच्च शिखर पर पहुंचना कई लोगों के लिए मिशन बन गया, तो कई देशों के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न। पर्वतारोहण के साथ-साथ प्रकृति के साथ बदलते इंसानी रिश्तों के बारे में पढ़िए इस लेख में।

यहां हम बात कर रहे हैं कक्षा -1 की गणित की नई किताब की जिसे एन.सी.ई.आर.टी. ने पिछले साल प्रकाशित किया है। पहली नज़र में आंखों को सुकून देने वाली इस किताब की समीक्षा पढ़ने पर समझ में आता है कि इसमें बालमनोविज्ञान और शिक्षाशास्त्र के स्तर पर काफी कमियां हैं।

किताब में लगभग हर चित्र में भारतीय परिवेश की चीज़ों की जगह अमरीकी वस्तुएं दिखती हैं। ये अपरिचित चित्र बच्चों के दिमाग पर किस तरह की छवि बनाएंगे यह तो एक प्रमुख सवाल है ही। पर साथ ही यह सवाल भी उठता है कि एन.सी.ई.आर.टी. जैसे संस्थान ने चित्रकारों से भारतीय परिवेश के चित्र बनवाने की बजाए 'रेडीमेड अमेरिकन चित्रों' का सहारा क्यों लिया? और वो भी यह जानते हुए कि हमारे यहां ज़्यादातर राज्यों की पाठ्यपुस्तकें एन.सी.ई.आर.टी. की किताबों की नकल भर होती हैं। इसलिए अब खतरा है कि अगले कुछ सालों में ये सब भी इसी परिपाटी पर चलकर बच्चों के लिए कहीं उतनी ही अपरिचित और बेगानी न हो जाएं।

कुछ विलक्षण तरल 42

आप ठोस, द्रव और गैस के गुणों से भलीभांति वाकिफ हैं। हमारे आसपास कुछ ऐसे तरल भी मौजूद हैं जो हमारी तरल की कसौटियों से कुछ फर्क हैं। मसलन टूथपेस्ट को ही लीजिए। यह एक ऐसा तरल है जो ट्यूब को दबाने पर तो बहता है, लेकिन एक बार ब्रश पर आ जाने के बाद ठोस जैसा व्यवहार करने लगता है। सिर्फ टूथपेस्ट ही क्यों, ऐसे कई और उदाहरण अपने आसपास ही मिल जाते हैं। कुछ विशिष्ट तरल पदार्थों के बारे में पढ़िए इस लेख में।

गुलेलबाज़ लड़का 85

हमारे आसपास ऐसे बच्चे दिखाई दे जाते हैं जिन्हें तितलियों के पंख नोचने, चिड्डों की पूंछ में धागा बांधकर उन्हें उड़ाने या गुलेल से चिड़ियों को निशाना बनाने में मज़ा आता है। हम लोग ऐसे बच्चों को ऐसा करने से रोकते तो हैं ही, साथ ही उन्हें 'राक्षस' कहने से भी बाज़ नहीं आते। लेकिन क्या ऐसे बच्चों का दिल सचमुच किसी की तकलीफ को देखकर नहीं पसीजता होगा?

बाल हृदय में क्या कुछ चलता रहता है, इसे बताने की कोशिश कर रहे हैं, प्रसिद्ध साहित्यकार भीष्म साहनी।

भीष्म साहनी का कुछ दिनों पहले निधन हो गया है। यह कहानी उन्हें याद करने की एक छोटी-सी कोशिश है।

शैक्षिक संदर्भ

अंकः 46

अप्रैल-जुलाई 2003

इस अंक में

आपने लिखा

मैं संदर्भ के पुराने मित्रों में से एक हूं और निरन्तर अपना ज्ञानवर्धन कर रहा हूं। विगत आठ वर्षो से मेरा और मेरे साथियों का ज्ञानवर्धन करने के लिए मैं आपका शुक्रगुज़ार हूं। मैंने इसी वर्ष कक्षा 12वीं की परीक्षा उत्तीर्ण की है तथा आई.आई.टी. के लिए जॉइन्ट एन्टरेंस एग्ज़ामिनेशन की तैयारी कर रहा हूं।

संदर्भ का अंक 45 प्राप्त हुआ। 'गैलिलियो का दोलक' तथा 'आइसोटोप और आवर्त्त नियम' जैसे लेखों ने मेरी परीक्षा की तैयारी में काफी मदद की। 'कुछ यादें शांति निकेतन' की बहुत पसंद आया तथा कहानी 'उड़ाने वाली पतंग' ने अच्छा मनोरंजन किया।

मैं आपसे यह पूछना चाहता हूं कि क्या पाठकों के लेख तथा कुछ विषयों पर उनके विचार संदर्भ में प्रकाशित होने के लिए आमंत्रित किए जाते हैं? कृपया इसका उत्तर दें। वर्तमान में संदर्भ की कमियों में मौलिक लेखों का अभाव तथा समय पर प्रकाशित न होना प्रमुख हैं। आशा है आप इन त्रुटियों को दूर करने का हर संभव प्रयास कर रहे होंगे।

विकास जैन, हरदा, म. प्र.

मैं संदर्भ का नया पाठक हूं। यह एक बहुत ही अच्छी और ज्ञानवर्धक पत्रिका है। संदर्भ में ज्ञान-विज्ञान से संबंधित कई लेख प्रकाशित होते हैं जैसे अंक-43 में 'पाठ्यक्रम निर्माण के विविध आयाम' और 'विज्ञान की पढ़ाई में कला का स्थान' दोनों लेख अपने अन्दर बहुत अधिक जानकारी समेटे थे। अंक-44 में 'हम घास क्यों नहीं खाते' और 'चालक पॉलिमर्स' लेख बहुत ही ज्ञानवर्धक थे।

मैं पिछले 5 साल से शिक्षण कार्य से जुड़ा हूं और मैंने ये देखा है कि बच्चों की रुचि गणित व विज्ञान विषयों में कम होती जा रही है। बच्चों में इन विषयों के प्रति रुचि को कैसे जागृत किया जाए इसके बारे में ज़्यादा-से-ज़्यादा लेख प्रकाशित करें। आपकी पत्रिका की नियमितता खत्म होती जा रही है। कभी अंक चार महीने में या कभी छह महीने में प्राप्त होता है, कृपया पत्रिका को द्वैमासिक ही रखने का प्रयत्न करें।

नरेन्द्र सिंह (शिक्षक)
महेन्द्रगढ़, हरियाणा

एक मित्र के यहां संदर्भ से मेरी पहली मुलाकात हुई। अब मैं ही नहीं पूरा परिवार नियमित पाठक हैं। उड़ीसा जैसे राज्यों में हिन्दी की किताबों की उपलब्धता न के बराबर है एवं जिन विषयों पर संदर्भ में लेख मिलते हैं उन पर हिन्दी में बहुत कम ही लिखा जाता है।

बचपन से ही गणित मेरा प्रिय विषय है, इसलिए सर्वप्रथम ज़रा सिर खुजलाने की कोशिश करता हूं। सभी सवाल मज़ेदार होते हैं। उपहार पाने का शानदार मौका देकर आपने अच्छा किया। सभी सवाल सही होने पर भी कृपया मुझे 'समझ के

लिये तैयारी' नामक किताब ही भेजें, क्योंकि 'बच्चे असफल.......' मेरे पास है। आशा करता हूं संदर्भ अपनी पहचान कायम रखेगा। पाठक के अलावा और भी किसी रूप में संदर्भ परिवार से जुड़ना चाहता हूं।

अनूप अग्रवाल
बरगड़, उड़ीसा

संदर्भ का 45 वां अंक यद्यपि फरवरी-मार्च 2003 के लिए था परन्तु मिला जून के अन्तिम सप्ताह में। परन्तु संदर्भ के मुखपृष्ठ पर छपे दिल ने मेरे दिल को ऐसा मोहा कि सभी शिकवे-शिकायतें रफूचक्कर हो गए। वास्तव में इतना यथार्थ एवं सुस्पष्ट मॉडल, वह भी हृदय जैसे जटिल अंग का पहली बार देखा है। इसके लिए आप की जितनी भी तारीफ की जाए वह कम है। इस अंक के यूं तो सभी लेख ज्ञानवर्धक एवं रोचक हैं परन्तु मुझे 'नक्शों के साथ दोस्ती', 'सवालीराम' का जवाब, पाठ्यपुस्तकों की हिन्दी एवं कहानी बहुत अच्छे लगे। स्कूली पाठ्यक्रमों से लेकर आई.ए.एस. तक की परीक्षाओं में नक्शों पर आधारित प्रश्न पूछे जाते हैं, परन्तु देखने में आता है कि जिन छात्रों ने भूगोल को एक विषय के रूप में पढ़ा हो उनके लिए भी नक्शे एक नीरस गतिविधि बनकर रह जाते हैं। कुछ अध्यापक बंधु भी नक्शों को अनावश्यक मानकर पाठ पढ़ाते हुए मानचित्र वाला पृष्ठ छोड़कर, आगे वर्णन पढ़कर सुना देते हैं और बच्चों के लिए नक्शों का महत्व धरा रह जाता है। इस लेख में प्रकाशित किए गए नक्शे वास्तव में बहुत ही आकर्षक एवं वास्तविकता को प्रकट करने वाले हैं।

सवालीराम ने दिल की धड़कन के बारे में जो जवाब दिया उसे पढ़कर मेरे दिल की धड़कन थम-सी गई। हृदय के कार्य करने की जटिल प्रक्रिया को बहुत ही सरल भाषा में समझाने का प्रयास सराहनीय है। मेरा एक सुझाव है कि आप संदर्भ का एक पृष्ठ विज्ञान के तकनीकी शब्द एवं परिभाषाएं समझाने के लिए आरक्षित कर दें, जिससे मेरे जैसे गैर-विज्ञान पृष्ठभूमि वाले शिक्षकों एवं विद्यार्थियों का भी भला हो सके।

कृष्ण कुमार जी का लेख 'पाठ्य पुस्तकों की हिन्दी' अत्यंत खोजपूर्ण एवं गहन विश्लेषण युक्त है। वे धन्यवाद के पात्र हैं। लेखक ने हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों पर परिस्थिति-जन्य प्रभावों का तार्किक विवेचन कर एक स्वस्थ बहस को जन्म दिया है। साथ ही इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि हिन्दी का सर्वाधिक अहित हिन्दी भाषी क्षेत्र के लोगों ने ही किया है। उन्होंने पाठ्यपुस्तकों को अपना दृष्टिकोण परोसने का एक साधन बना लिया। इससे हिंदी का भाषा तत्व गौण हो गया तथा सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक तत्व प्रधान हो गए जो कि नव-हिन्दी-प्रवेशी विद्यार्थी वर्ग के लिए एक

नीरस एवं बोझ युक्त कार्य साबित हुआ।

यह भी देखने में आया है कि प्राथमिक कक्षाओं की पाठ्यपुस्तक लेखन के लिए ऐसे व्यक्तियों को आमंत्रित किया जाता है जिन्होंने एक दो कविता-कहानी आदि लिखकर कवि या लेखक के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली है; परन्तु अध्यापक के रूप में उनका योगदान मात्र उपस्थिति-पंजी पर हस्ताक्षरों तक सीमित रहा हो।

राजस्थान में विगत 2-3 वर्षों से प्राथमिक स्तर की पाठ्यपुस्तकों को बदलने का दौर चल रहा है जिसमें कक्षा -1 की 'आनन्द पोथी' भाग 1 व 2 काफी बाल मनोविज्ञान के अनुकूल हैं, परन्तु शेष कक्षाओं की पुस्तकें उसी ढर्रे पर चली आ रहीं हैं जिनमें कोई भी नया प्रयास नहीं है। बस राजनीति के प्रतीक कुछ नारे व मुख्यमंत्री के नाम का प्रचार हर पुस्तक के पीछे ज़रूर आ गया है।

कहानी 'उड़ाने वाली पतंग' बच्चे की जिज्ञासु प्रवृत्ति को प्रकट करने वाली तो थी, साथ ही इससे यह भी ज्ञात होता है कि किस तरह बच्चों की बातों पर बड़ों को सहज ही विश्वास नहीं होता और बच्चे का उत्साह, जब उस पर अविश्वास हो तो किस तरह कुन्द हो जाता है।

रमेश जांगिड़ (शिक्षक)
भिरानी, राजस्थान

मैं इंजीनियरिंग तृतीय वर्ष का विद्यार्थी हूं। ज़रा सिर खुजलाइए की तरह के दिमाग को खुजलाने वाले सवालों की कमी महसूस होती है। यहां पर भी गणित के नाम पर कुछ सूत्रों से कुछ समस्याओं को हल करवाने के अतिरिक्त कुछ नहीं करवाया जाता। इस स्थिति में जहां समाज में रटना ही दिमाग का द्योतक है संदर्भ पत्रिका की पहल सराहनीय है।

लोकेश रणदिवे
इंदौर, म.प्र.

क्या है इसके मायने

47th issue Last issue

संदर्भ के वार्षिक सदस्यों के लिफाफे पर चिपकी पते वाली पर्ची पर ऊपर की तरफ लिखा होता है। यदि आपकी पर्ची पर लिखा है 47th issue (Last issue) तो उसका अर्थ है कि आपकी सदस्यता 47वें अंक पर खत्म हो रही है। इसलिए अंक 46 मिलते ही अपनी वार्षिक सदस्यता का नवीनीकरण करवा लीजिए।

चित्र: शिवेंद्र पंड्या। चकमक पत्रिका से साभार

कक्षा में बच्चों से बातचीत

कमलेश चंद्र जोशी

प्राथमिक विद्यालय के बच्चों से बातचीत करना सीखने और सीखी हुई बातों को सुदृढ बनाने का एक माध्यम है। परन्तु वास्तविकता यह है कि हमारी प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों से खुलेपन से बातचीत करना या बच्चों को बातचीत का माहौल देना बहुत ही कम दिखाई पड़ता है। यह सोच मुश्किल इसलिए भी दिखाई देती है क्योंकि अधिकतर शिक्षकों का यह दृष्टिकोण ही नहीं बन पाता कि कक्षा में बच्चों से बातचीत करना

क्यों ज़रूरी है? या बच्चों से बातचीत का अर्थ क्या है? फिर कक्षा में पहुंचने पर वे यह तय ही नहीं कर पाते कि बच्चों से क्या बातचीत की जाए, कैसे बातचीत की जाए? और इस बातचीत को सीखने-सिखाने के माध्यम में कैसे परिवर्तित किया जाए? ये सब बातें शिक्षकों के बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, उनकी रचनात्मकता आदि पर भी निर्भर करती हैं। लेकिन हमें इस बात की खुशी है कि हम उत्तर प्रदेश के सुदूर ग्रामीण इलाके के एक प्राथमिक सरकारी विद्यालय में बच्चों से हुई बातचीत को नोट कर पाए।

इस बातचीत का खुलासा यहां किया जाए, इससे पहले ज़रूरी है कि इसकी थोड़ी पृष्ठभूमि बता दी जाए। हुआ यह कि पिछले महीनों हम उत्तर प्रदेश के कुछ ज़िलों में प्राथमिक कक्षाओं के अवलोकन संबंधी एक अध्ययन से जुड़े थे। इस दौरान उत्तर प्रदेश के ललितपुर ज़िले के एक प्राथमिक विद्यालय की कक्षा -2 में बैठकर मैं कक्षा की प्रक्रियाओं को देख रहा था। यह उस दिन का चौथा पीरियड था तथा दिन के 12 बजे थे। यह कक्षा विद्यालय के प्रधानाध्यापक, जिन्हें सुविधा के लिए हम बड़े गुरुजी कहेंगे वे ले रहे थे। तो देखते हैं कि बड़े गुरुजी ने इस कक्षा में क्या बातचीत की? कैसे बातचीत की? फिर अंत में इस बातचीत के आधार पर कुछ समझ बनाने की कोशिश करेंगे।

बातचीत ऐसे शुरू हुई

गुरुजी बड़े मृदुभाषी और बच्चों के बीच आसानी से घुलमिल जाने वाले प्रतीत हो रहे थे। यह बात आगे सही भी साबित हुई। बातचीत की शुरुआत करते हुए उन्होंने बच्चों से पूछा, "कौन-कौन से जानवर दूध देते हैं?" इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कई बच्चे उत्सुक थे। 'भैंस' एक बच्चे ने कहा। दूसरे बच्चे ने कहा 'गैय्या', एक बच्ची ने कहा 'बकरी', यह सब सुनकर गुरुजी ने कहा, "एक नाम और बताओ, जो तुम्हारे मन में नहीं आ रहा है। तुम उसे घर में पालते भी हो।" फिर कई बच्चे एक साथ बोलने लगे, 'काडरो' (काडरो माने भेड़) "तुम जानत हो, काडरो दूध देती है, पर वह और क्या काम आवत है?" गुरुजी ने स्थानीय लहज़े में पूछा। बच्चों ने उसी तरह से जवाब देते हुए कहा 'वाका शिकार बनत है', 'भेड़ बच्चा देत है', 'भेड़ लेंडी करत है।' इस पर कक्षा में हंसी का माहौल छा गया। इसके उपरांत एक-दो बच्चों ने बताया, 'भेड़ का ऊन कतरा जाता है', 'इसका कम्बल बनता है।' इसके बाद बड़े गुरुजी ने आगे बातचीत शुरू की, "अब जे बताओ, कौन-कौन जानवर मांस खात हैं?" तब बच्चे एक-एक कर बताने लगे – कुत्ता, भेड़िया, शेर आदि। इसके

बाद बड़े गुरुजी ने चर्चा को और आगे बढाया, "कौन-कौन से जानवर घर में पाले जाते हैं?" बच्चों ने जवाब दिए, "मुर्गी-मुर्गा, तोता, बिल्ली, गाय, बकरी, भेड़, हाथी।" गुरुजी ने पूछा, "कौन-कौन से पक्षी ज़मीन की सफाई करते हैं? जैसे तुमने कुछ पक्षियों को मरे हुए ढोरों को खाते हुए देखा होगा। कौन-कौन से पक्षी उन्हें खाते हैं?" इस पर बच्चों ने बताया, "गिद्ध व कौआ।"

यहां ध्यान देने की बात यह है कि उक्त चर्चा में अधिकतर बच्चों की काफी भागीदारी थी और गुरुजी सभी को बोलने का मौका दे रहे थे और बच्चे कक्षा में सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे। कक्षा को जीवंत बनाए रखने के लिए शिक्षक बीच-बीच में इस तरह की बातें भी जोड़ रहे थे जैसे – मिट्ठू सफेद होता है तो सभी ने कहा हरा। मिट्ठू किस-किस के यहां पला हुआ है? वह क्या-क्या बोलता है? क्या-क्या खाता है? इसके बाद उन्होंने पूछा, "और कौन-कौन से पक्षी पाले जाते हैं?" किसी ने कहा – परेवा। तो गुरुजी ने बताया कि परेवा को कबूतर भी कहते हैं। पुराने ज़माने में कबूतरों का उपयोग पोस्टमेन के रूप में भी किया जाता था। उसके पैर में चिट्ठी बांध दी जाती थी और वह चिट्ठी को पाने वाले तक पहुंचा देता था जैसे कि आजकल डाकिया काम करता है। "तुम जानते हो कि डाकिया क्या काम करता है?" तो बच्चों ने बताया कि चिट्ठी लाता है। हां, राजघाट से जो चिट्ठी आती है उसे वह लाता है। इसी तरह से उन्होंने बताया कि मैना भी पाली जाती है। वह काले रंग की होती है। फिर उन्होंने मुर्गा-मुर्गी पालने के बारे में बताया। आगे उन्होंने बच्चों से बातचीत जारी रखते हुए पूछा, "अंडा कौन देता है? मुर्गा या मुर्गी।" तो बच्चों ने बताया 'मुर्गी।' इस पर उन्होंने कक्षा को सक्रिय बनाने के

लिए एक सवाल और पूछा, "एक तालाब है। उसमें एक खम्बा है। उस पर एक मुर्गा बैठा हुआ है। बताओ, मुर्गा अंडा कहां देगा?" रामकिसन ने बताया, "पानी में।" तब गुरुजी ने आश्चर्य जताते हुए पूछा, "मुर्गा अंडा पानी में देगा?" तब तक रामकिसन समझ गया कि उसने कुछ गलती की है। मुर्गा अंडा देता ही नहीं है।

यहां देखने की बात यह है कि गुरुजी कक्षा में गति बनाए रखने के लिए इस तरह की बातें भी करते रहे जिससे बच्चों का ध्यान कक्षा में बना रहा। इसके बाद उन्होंने कहा, "तुम लोगों ने अंडा खाया होगा लेकिन हमें तो कभी नहीं खिलाया। और तुम सबने टी. वी. पर अंडे का विज्ञापन भी देखा होगा 'संडे के संडे खूब खाओ अंडे'।" फिर उन्होंने नई बात शुरू की कि कौन-से जानवर ज़मीन पर रहते हैं? जवाब में बच्चों ने बताया कि शेर, हाथी, भैंस, गाय, बकरी। बातचीत को एक नया मोड़ देते हुए गुरुजी ने कहा, "अब तुम्हें एक खेल खिलाते हैं – चिड़िया उड़, ...।"

चिड़िया उड़ . . . . .

फिर गुरुजी ने खेल के बारे में समझाया कि कोई चीज़ उड़ने वाली होगी तो उसे दोनों हाथ उठाकर उड़ाना है और जो जीव-जंतु ज़मीन पर रहते हैं उनके लिए अपने हाथ नीचे ही रखना है। जिन्होंने ज़मीन पर रहने वाले जानवरों को उड़ा दिया, उन्हें गाना सुनाना पड़ेगा। उन्होंने पांच मिनट तक कक्षा में बैठे-बैठे ही यह खेल खिलवाया। बच्चों ने इस खेल का भरपूर आनन्द लिया। इस खेल के उपरांत गुरुजी ने पालतू जानवरों पर बातचीत शुरू की – कौन-कौन से जानवर पाले जाते हैं। बच्चों ने गाय, भैंस, बकरी, भेड़ आदि के बारे में बताया। फिर उन्होंने पूछा, "भैंस किस रंग की होती है? उससे हमें क्या-क्या मिलता है? गाय किस रंग की होती है? उससे हमें क्या-क्या मिलता है? उसका दूध किस-किस काम में आता है?" बच्चों ने बताया, "गाय के दूध से मठा बनता है, घी बनता है, दही बनता है, रसगुल्ला बनता है आदि।" इस तरह बच्चों के विचार आते रहे और गुरुजी बात को आगे बढ़ाते रहे। इसके बाद उन्होंने गाय-भैंस के गोबर पर भी बात की कि गोबर हमारे क्या-क्या काम आता है? बच्चों ने बताया, "उसके कंडे बनते हैं, कंडे जलाने के काम में आते हैं। गोबर से हमें खाद मिलती है जो खेतों में डाली जाती है।" इसके बाद एक बच्चे ने कहा कि स्कूल के पेड़-पौधों में भी खाद डाली जाती है। इस पर गुरुजी ने पूछा, "पेड़-पौधों में खाद डालने से क्या-क्या होता है?" बच्चों ने बताया, "इससे पौधे बढ़ते हैं।" तब गुरुजी ने बताया कि

जिस तरह से हम दूध, दही, दाल, सब्ज़ी आदि चीज़ें खाते हैं तो उससे हमारा शरीर तंदुरुस्त बनता है, वैसे ही खाद से पौधे तंदुरुस्त बनते हैं। फिर उन्होंने कुछ और छुट-पुट सवालों का दौर जारी रखा, "बैल किस काम में आता है? बैल किसके-किसके यहां पला हुआ है?" बच्चों ने बताया, "बैल हल जोतने के काम में आता है?" गुरुजी ने पूछा, "कुत्ता किस काम में आता है, कुत्ता किस-किस के यहां पला हुआ है?" कुछ बच्चों ने बताया, उनके यहां कुत्ता पला हुआ है। फिर गुरुजी ने कुत्ते के आज्ञाकारी होने की बात बताई। और बच्चों से पूछा, "आज्ञाकारी माने जानते हो?" बच्चों की तरफ से चुप्पी रही तो उन्होंने बताया, "अगर मैं तुमसे कहूं, जाओ तुम पानी ले आओ या स्कूल की क्यारी में पानी डाल दो तो तुम हमारा काम कर देते हो, इसका अर्थ हुआ कि तुम आज्ञाकारी हो।" इसके बाद उन्होंने कुत्तों के काटने और उसके इलाज के रूप में सुई लगाने के बारे में चर्चा की और बच्चों को बताया कि अगर कोई पागल कुत्ता काट ले तो उसके लिए सुई लगानी पड़ती है। उन्होंने पूछा, "सुई कहां पर लगाई जाती है?" तो कुछ बच्चों ने कहा, बांह पर। कुछ ने कहा, कूल्हे पर। एक बच्चे ने कहा, पेट पर। तो गुरुजी ने कहा, "हां, इसने सही बताया।" गुरुजी ने उसे शाबाशी भी दी।*

बातचीत के बहाने . . . .

इस दौरान बहुत-सी बातों को याद रखने में हमें दिक्कत तो आ रही थी क्योंकि उनकी बातें इतनी गति से हो रही थीं कि पूरी बातचीत को नोट कर पाना मुश्किल लग रहा था। कई बार लगता था कि बातचीत दिशा भटक रही है या गुरुजी फालतू बातें भी कर रहे हैं, लेकिन इस सब से एक बात साफतौर पर उभरकर आ रही थी कि शिक्षक इस पीरियड के दौरान सभी बच्चों को बातचीत करने का खुलकर मौका दे रहे थे। बच्चों ने अपने परिवेश में जो कुछ भी देखा है, समझा है उसे शिक्षक बातचीत के ज़रिए कक्षा में बच्चों से बुलवा पा रहा था। बच्चे अपने अनुभवों के आधार पर, अपने अवलोकनों के आधार पर शिक्षक से बातचीत कर रहे थे। गुरुजी ने भी बच्चों से बातचीत के दौरान एक तारतम्य बनाए रखा था।

आमतौर पर शिक्षकों के सामने यह समस्या होती है कि 5-10 मिनट तक बच्चों से बातचीत करने के बाद उसे आगे कैसे बढ़ाया जाए या चर्चा को क्या दिशा दी जाए। कई बार तो

** आजकल रैबीज़ से बचाव के लिए ऐसे टीके भी मिलते हैं जिन्हें पेट पर लगाना ज़रूरी नहीं है*

हमें यह भी नहीं सूझता कि विषय को आगे कैसे बढ़ाएं? क्या बात करें जिसमें सारे बच्चे शामिल हों? लेकिन यहां पर बड़े गुरुजी की तारीफ करनी होगी कि गुरुजी बातचीत को संतुलित ढंग से आगे बढ़ा रहे थे और बच्चों से पशु-पक्षियों पर भी आसानी से बात करते जा रहे थे।

इस पूरी चालीस मिनट की बातचीत में कहीं से यह नहीं लगा कि कक्षा का वातावरण नीरस हो रहा हो और बच्चों को कक्षा में आनन्द नहीं आ रहा हो। बच्चे जोश के साथ बातचीत में हिस्सा ले रहे थे। इस पूरे पीरियड के दौरान कोई बच्चा बाहर पानी पीने, पेशाब करने नहीं गया, न ही कक्षा में बोरियत के लक्षण दिखाई दिए। जबकि यह देखा जाता है कि नीरसता होने पर बच्चे कक्षा से बाहर निकलने का रास्ता ढूंढते हैं। इसी तरह बातचीत में रुचि बनाए रखने हेतु बड़े गुरुजी ने बच्चों को बीच-बीच में कविता सुनाने के मौके भी दिए। मज़ेदार बात यह रही कि इस पूरी बातचीत के दौरान गुरुजी कुर्सी पर बैठे रहे, लेकिन फिर भी इस कक्षा को हम एक अच्छी कक्षा कह सकते हैं क्योंकि इसमें बच्चे सक्रिय रूप से जुड़े हुए थे और अपने अनुभवों को व्यक्त कर रहे थे। वे खुलकर अपनी बात रख रहे थे, उनमें कोई हिचकिचाहट नहीं थी। इस पूरी प्रक्रिया से यह बात स्पष्ट होती है कि एक शिक्षक के पास बच्चों से बातचीत करने का, घुलने-मिलने का कौशल होना चाहिए तभी वे बच्चों के साथ कक्षा की पूरी प्रक्रिया को जीवंत बना सकते हैं – जैसा कि बड़े गुरुजी की इस कक्षा से हुआ था।

कमलेश चंद्र जोशी: प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े हैं। इन दिनों लखनऊ में प्राथमिक शिक्षा के संदर्भ केन्द्र नालंदा में कार्यरत हैं।

एवरेस्ट विजय के पचास साल

माधव केलकर

इस साल 29 मई को एवरेस्ट फतह के 50 वर्ष पूरे हुए हैं। सर्वप्रथम एवरेस्ट फतह करने वाली जोड़ी – एडमंड हिलेरी और तेनज़िंग नोर्गी के साहस को याद करने के लिए भारत-नेपाल में इस साल कुछ समारोह भी सम्पन्न हुए हैं। 50वीं सालगिरह के मौके पर कई अभियान दलों ने भी एवरेस्ट पर सफलता के झंडे गाड़े हैं। पर्वतारोहण के इतिहास में एवरेस्ट फतह एक मिसाल बन गई है।

इन सबके बीच में एक सवाल मुझे परेशान करता रहा है (हो सकता है आपको भी कर रहा हो) कि एवरेस्ट तो हज़ारों बरसों से मौजूद रहा है लेकिन इस पर चढ़ने का ख्याल हालिया सौ, सवा-सौ बरसों में ही क्यों आया। सिर्फ एवरेस्ट ही क्यों यूरोप, अमरीका, अफ्रीका में भी प्रमुख पर्वत चोटियों को पिछले 200 वर्षों में ही फतह

किया गया है। ऐसे ही कुछ सवालों के जवाब पाने की कोशिश हम यहां करेंगे।

प्राचीन काल से ही पर्वत इंसानों के लिए रहस्यमय बने रहे थे। इस छवि को बनाने में पहाड़ों पर मौजूद विशाल हिमनदों, हिमस्खलन, भू-स्खलन, लावा-मैग्मा के बहाव आदि प्राकृतिक आपदाओं का महत्वपूर्ण हाथ रहा होगा। शायद यही वजह है कि गगनचुंबी पर्वत चोटियों को ईश्वर का निवास स्थान माना जाने लगा। उदाहरण के लिए हिन्दु मान्यताओं में कैलाश शिखर पर भगवान शंकर का निवास माना जाता है। इसी तरह ग्रीस, मेक्सिको, जापान, तिब्बत आदि कई देशों में भी पर्वत शिखरों पर देवताओं का निवास माना जाता है।

संभव है पहाड़ों की इस रहस्यमयी-आध्यात्मिक छवि के कारण इंसान पहाड़ों से दूर रहे हों। लेकिन दूसरी ओर दुनिया में ज़्यादातर पहाड़ी इलाकों में लोग रहते आए हैं, इन्हीं पहाड़ों से लोग अपने लिए ज़रूरी संसाधन भी बटोरते रहे हैं। ऐसी कई जगहों से व्यापारिक रास्ते भी गुज़रते हैं। इतना सब कुछ होने के बावजूद लोग पर्वत चोटियों के बारे में कुछ जानना न चाहते हों, उन पर चढ़ने की इच्छा न होती होगी ऐसा मानना थोड़ा कठिन लगता है। यह भी संभव है कोई व्यक्ति किसी चोटी पर शौकिया तौर पर चढ़ा भी हो, लेकिन उसने इसका कोई लिखित ब्यौरा न रखा हो।

इतिहास में पर्वतारोहण ......

वैसे पर्वतारोहण का इतिहास ढूंढा जाए तो कहीं भी कोई सिलसिलेवार ब्यौरा नहीं मिलता कि अमुक-अमुक समय से इंसान ने पहाड़ों की चोटियों को एक चैलेंज के रूप में देखना शुरू किया। 16वीं सदी से पहले पहाड़ों पर चढ़ने के कुछ ब्यौरे ज़रूर मिलते हैं लेकिन ऐसे ब्यौरों की संख्या काफी कम है।

ऐतिहासिक स्रोतों के अनुसार 350 ईस्वी पूर्व में फिलिप ऑफ मेसेडोनिया (मकदूनिया) ने बाल्कन पर्वत शिखर पर कदम रखा था। किस्सा कुछ इस तरह से है कि फिलिप चाहता था कि किसी ऐसी पर्वत चोटी पर पहुंचा जाए जहां से एड्रियाटिक सागर और एजीयन सागर दोनों को देखा जा सके। इस इच्छा के चलते वह बाल्कन शिखर पर जा पहुंचा।

दूसरा किस्सा है माउंट एटना पर चढ़ने का। ईस्वी सन् 100 में सम्राट हैडरिन इस चोटी पर पहुंचे क्योंकि वे वहां से सूर्योदय देखना चाहते थे।

इसके बाद अगली कई शताब्दियों तक पहाड़ों पर चढ़ने का कोई ब्यौरा नहीं मिलता। 14वीं शताब्दी में जब यूरोप पुनर्जागरण के दौर से गुज़र
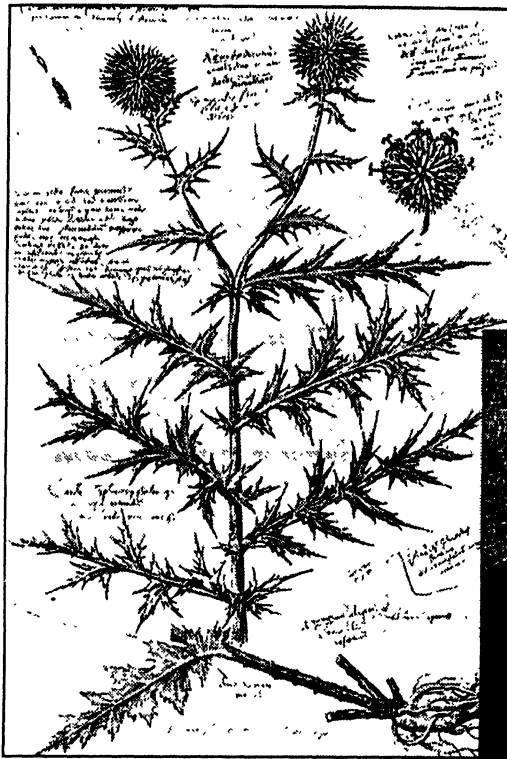
कोनार्ड गेसनेर: सोलहवीं सदी में गेसनेर ने आल्प्स की कई चोटियों पर चढ़ाई की। उसका उद्‌देश्य था उन पहाड़ों पर से वनस्पतियों के नमूने इकट्‌ठा करना। उसे ऐसा चस्का लगा कि वह हर साल पहाड़ों पर चढ़ने जाने लगा। इसके लिए वह ऐसा समय चुनता था जब वहां खूब सारे फूल खिले हों। गेसनेर ने पहाड़ों पर वैज्ञानिक खोजबीन की परिपाटी डाली। गेसनेर का यह चित्र सन् 1564 में बनाया गया था।

साथ में उसके द्वारा बनाया इकिनोप्स स्फेरोसिफेल्स (Echinops Spherocephlus) का स्केच।

रहा था तब शायद एक बार फिर लोगों में प्रकृति के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा ने ज़ोर पकड़ा। 14वीं शताब्दी में कवि पेट्रार्च द्वारा शौकिया तौर पर दक्षिणी फ्रांस के माउंट वेन्टॉक्स (लगभग 6270 फुट) पर चढ़ने का ज़िक्र मिलता है। इसके बाद से ऐसे ही कुछ और ब्यौरे मिलने शुरू होते हैं। 16वीं सदी में स्विस वैज्ञानिक कोनार्ड गेसनेर ने भी कई पवर्तों पर

चढ़ाई की क्योंकि वह पहाड़ों पर मौजूद वनस्पतियों का अध्ययन कर रहा था।

वैसे हमें यह बात भी याद रखनी होगी कि पुनर्जागरण काल से यूरोपीय समाज ने एक नई करवट ली थी। उस दौर में लोगों की रुचि नए भूभागों को खोजने, विज्ञान-कृषि वगैरह जैसे क्षेत्रों में नई तकनीकों को खोजने जैसे कामों में जाग उठी थी। इस नए दौर में लंबी समुद्री यात्राएं, नए भूभागों की खोज, नए भूभागों पर कब्ज़ा करना, समुद्री व्यापार मार्गों पर एकाधिकार स्थापित करना, प्राकृतिक संसाधनों की लूट, उपनिवेश स्थापित करने जैसी प्रवृतियां यूरोपीय समाज में उभर रही थीं।

पुनर्जागरण काल के साथ जिस पूंजीवादी व्यवस्था का विकास हो रहा था उसमें इंसान और प्रकृति के रिश्तों में भी बदलाव आ रहा था। इससे पहले भी इंसान नदियों, समुद्रों, पहाड़ों, जंगलों का इस्तेमाल करता था लेकिन ये सब उसके लिए किसी किस्म की चुनौती या चैलेंज की तरह नहीं थे। लेकिन इस नए दौर में जो सामाजिक मूल्य स्थापित हो रहे थे उनमें पहाड़ों की चोटियां, दुर्गम इलाके, तेज़ बहाव वाली नदियां, समुद्र, ज्वालामुखी आदि को प्रकृति द्वारा पेश की गई चुनौतियों के रूप में लिया जाने लगा था। हालांकि सरसरी तौर पर देखा जाए तो एवरेस्ट जैसी चोटियां या बर्फीले ध्रुवीय इलाके इंसानों से कोई मुकाबला नहीं कर रहे थे। प्रकृति के रहस्यों को जानना, समझना एक फर्क चीज़ है लेकिन यहां तो हर चोटी, हर नदी चुनौती थी और जब कभी आप उन चुनौतियों से पार पाते तो 'विजय या फतह' जैसे जुमले भी दिए जाते थे। यह परंपरा आज भी जारी है। एवरेस्ट-विजय, चंद्र-विजय जैसी शब्दावली स्थापित सामाजिक मूल्यों को ही दर्शाती है।

16वीं और 17वीं सदी में भूगोल और भूविज्ञान जैसे विषयों का विकास भी शुरू हुआ था। जिसके तहत धरती की बनावट, चट्टानों की पहचान, भूकम्प-ज्वालामुखी, नदियों, समुद्रों, मिट्टियों आदि का अध्ययन शुरू हुआ। अब पहाड़ों पर चढ़कर वहां से चट्टानों के नमूने लेना, वहां पर पाए जाने वाले जीव-वनस्पतियों का अध्ययन करना पर्वतारोहण का प्रमुख हिस्सा बन गया था। इन सब के साथ पहाड़ों पर चढ़ना एक खेल की तरह भी उभर रहा था। आलप्स पर्वत की कई चोटियों पर शौकिया रोमांच के लिए चढ़ाइयां की जा रही थीं। 1786 में आलप्स की एक प्रमुख चोटी माउंट ब्लांक पर फतह मिल गई थी।

भारत में ....

इन्हीं सब औपनिवेशिक प्रवृत्तियों के साथ भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी आई और उसने जल्दी ही भारत के
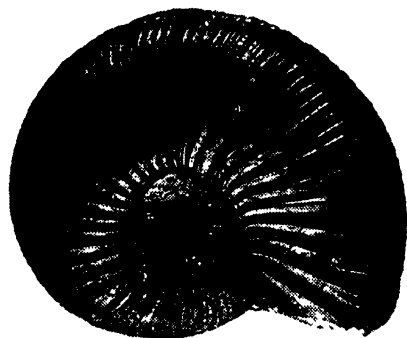
हिमालय में समुद्री जीवाश्म: 19वीं सदी में जब हिमालय के इलाके में खोजबीन शुरू हुई तब एक प्रमुख सवाल था कि हिमालय जैसी विशाल पर्वत शृंखला की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? उस दौर में हिमालय के कुछ इलाकों में समुद्री जीवाश्म मिले। यहां हिमालय से प्राप्त 13 करोड़ साल पुराने समुद्री जीवाश्म का फोटोग्राफ दिया गया है। यह जीवाश्म 18 हज़ार फुट की ऊंचाई पर मिला था। ऐसे जीवाश्मों से यह बात पक्की हुई कि हिमालय की ये महाकाय परतें समुद्र की तलहटी से ही निर्मित हुई हैं।

एक बड़े भूभाग पर अपना शासन स्थापित कर लिया। उनकी रुचि भारत के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़ा जमाने में भी थी इसलिए कंपनी ने सीमावर्ती इलाकों में खोजी अभियान दल भेजकर कई तरह की जानकारियां एकत्रित करना शुरू किया। इन्हीं जानकारियों के आधार पर बंगाल के सर्वेयर जनरल जेम्स रेनेल ने 1780 में हिन्दुस्तान का पहला नक्शा प्रकाशित किया।

औपनिवेशिक हितों के चलते यह ज़रूरी हो गया था कि भारत के भूगोल को विस्तृत रूप से समझा जाए। इसलिए 1780 के बाद भारतीय उपमहाद्वीप के भौगोलिक नक्शे बनाने का काम एक बड़े प्रोजेक्ट के रूप में उभरकर सामने आया।

भारत में 1823 में ग्रेट ट्रिग्नोमेट्रिक सर्वे की शुरुआत हुई। इस सर्वे के दौरान भारत के विभिन्न भूभागों की समुद्र सतह से ऊंचाइयों का पता लगाया गया था। इसलिए अधिकांश पर्वत चोटियों की ऊंचाइयों के बारे में जानकारी मिल गई थी। 19वीं सदी के शुरुआती दशकों में हिमालय क्षेत्र में इस तरह के सर्वे कर पाना काफी कठिन काम था। उन दिनों नेपाल, भूटान, सिक्कम ने अपनी सीमाएं यूरोपीय लोगों के लिए बंद की हुईं थीं। कुछ बरसों बाद भूटान,

फकीर बने हेरसे और मूरक्रॉफ्ट

खोजी पंडितः नैन सिंह

फकीरों के बाने में सर्वेयर: 19वीं सदी में भारतीय उपमहाद्वीप का सर्वे करना ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिए एक प्रमुख प्रोजेक्ट बन गया था। उन दिनों नेपाल, भूटान, सिक्किम, तिब्बत आदि ने अपनी सीमाएं यूरोपीय नागरिकों के लिए बंद की हुईं थीं। कुछ समय बाद सिक्किम और भूटान ने अपनी सीमाएं खोल दी। उस समय कई बार अंग्रेज़ सर्वेयर वेशभूषा बदल कर नेपाल-तिब्बत की सीमाओं में घुसकर अपना काम कर लेते थे। 1812 में एच. वाई. हेरसे और विलियम मूरक्रॉफ्ट भारतीय फकीरों की वेशभूषा में तिब्बत गए थे। इस चित्र को हेरसे ने खुद बनाया था।

हर बार इस तरह से चकमा दे पाना संभव नहीं था इसलिए हिमालय इलाके की जनजातियों के युवाओं को भी सर्वे के काम में शामिल किया गया। इन युवाओं को ट्रेनिंग देकर सर्वे कार्य में निपुण किया गया। इन्हें खोजी पंडित या पंडित एक्सप्लोरर कहा गया। ऐसे ही खोजी पंडितों में नैन सिंह का नाम काफी प्रमुखता से लिया जाता है। नैन सिंह ने एक मौके पर हिमालय क्षेत्र में तिब्बत -ल्हासा होते हुए लगभग 2000 किलोमीटर का सफर तय किया था। इस पूरे सफर के दौरान उसने गोपनीय तरीके से सर्वे भी किया और फील्ड नोट्स भी लिखे।

महिला पर्वतारोही: इस लेख को पढ़ते हुए आपको ऐसा लग रहा होगा कि पहाड़ों की चोटियों पर फतह का शौक सिर्फ पुरुषों को था। लेकिन चोटियों पर फतह पाने के मामले में महिलाएं भी पीछे नहीं थीं। 1838 में फ्रांसीसी महिला हेनरिटी डी एंगविले ने माउंट ब्लांक पर चढ़ाई की थी। बाद के वर्षों में और कई महिलाओं ने एंगविले से प्रेरणा ली। ऊपर दिए गए चित्र में एंगविले माउंट ब्लांक पर चढ़ाई से पहले अपने गाइड और सहायक दल का निरीक्षण कर रही है। यदि गौर करेंगे तो दिखेगा कि सहायक दल के मर्द तो पतलून वगैरह पहने हुए हैं लेकिन उनकी लीडर एंगविले एड़ियों तक लंबा स्कर्ट पहने हुई है। उस समय के फ्रांसीसी समाज में महिलाओं का पतलून पहनना अच्छा नहीं माना जाता था। इसलिए एंगविले ने लंबा स्कर्ट (जो पहाड़ों पर चढ़ाई के लिहाज़ से असुविधा-पूर्ण था) पहने हुए ही माउंट ब्लांक चोटी पर कदम रखा।

1840 के बाद एक अन्य महिला एयूब्रे ली ब्लांड ने भी एक पर्वत चोटी पर चढ़ने की हिम्मत दिखाई। ब्लांड ने स्कर्ट के भीतर पतलून पहन रखी थी। पहाड़ पर चढ़ते हुए स्कर्ट उतारकर पतलून पहने-पहने ही वो चोटी पर जा पहुंची। चोटी फतह के सुख को अनुभव करते हुए वो जब नीचे बेस कैम्प में आई तो मालूम पड़ा कि ब्लांड अपना स्कर्ट तो चोटी पर ही भूल आई है। अब ब्लांड को कहा गया कि वह तुरंत चोटी पर जाकर अपना स्कर्ट लेकर आए (यानी चोटी को एक बार फिर फतह करना होगा) अन्यथा पतलून वाले पहनावे की वजह से उस इलाके के प्रतिष्ठित सराय, धर्मशालाएं, धार्मिक स्थान उसे अपने यहां रुकने की अनुमति नहीं देंगे।

सिक्किम ने तो अपनी सीमाएं खोल दीं पर नेपाल अपनी नीति पर कायम रहा। लेकिन सर्वे तो किया जाना था इसलिए अंग्रेज़ों ने हिमालय इलाके की पहाड़ी जनजातियों के कई युवाओं को सर्वे के काम में जोड़कर उन्हें दक्ष बनाया। इन युवाओं को पंडित एक्सप्लोरर या खोजी पंडित कहा गया। बाद में इन युवाओं ने नेपाल व तिब्बत के इलाकों में घूमते हुए हिमालय की गहरी तहकीकात की। इन्हीं खोजी पंडितों में से एक ने हिमालय की सबसे ऊंची चोटी (29,002 फीट) की ऊंचाई को नापा था। बाद में इसी चोटी को 'माउंट एवरेस्ट' नाम दिया गया।

यदि उस दौर के यूरोप पर नज़र डाली जाए तो स्विस और इंग्लिश भद्रपुरुष यूरोप के पर्वतों पर एक के बाद एक फतह हासिल कर उन्हें बौना साबित कर रहे थे। लगभग उसी समय हिमालय के दर्रों-पहाड़ों पर दर्जनों सर्वेयर और उनके सहायक, सिपाही वगैरह अपनी रोज़ी-रोटी की खातिर अपने भारी-भरकम उपकरणों से नाप-जोख करते हुए आलप्स से भी ज़्यादा ऊंचाइयों तक पहुंच चुके थे।

हिमालयी चोटियों में रुचि

उन्नीसवीं सदी के मध्य में हिमालय को लेकर कई वैज्ञानिकों, शोधकर्त्ताओं की रुचि जागृत हुई। ये लोग हिमालय के भूगोल को समझने के लिए या जीव-जंतुओं, वनस्पतियों और जन-जीवन को जानने के लिए हिमालय की ऊंचाइयों पर पहुंचने लगे थे।

1890 से हिमालय की चोटियों पर फतह पाने के लिए नियमित रूप से पर्वतारोही दल कोशिश करने लगे। इस समय तक हिमालय पर चढ़ने वालों में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा था। इस नई पीढी में वे लोग शामिल थे जो पहाड़ों पर चढ़ने को एक एडवेंचर या रोमांच की तरह देखते थे, हिमालय की गगनचुंबी चोटियों पर चढ़ना एक चुनौती के रूप में देखते थे। इन लोगों की रिसर्च वगैरह में विशेष रुचि नहीं थी। 1890 में शुरू हुई कोशिशें जल्द ही रंग लाईं और कुछ छोटी-मोटी चोटियों पर फतह मिल भी गई, लेकिन एवरेस्ट तक पहुंचना तो अभी बहुत दूर था।

एवरेस्ट तक पहुंचने का रास्ता नेपाल या तिब्बत से होकर गुज़रता था। दोनों देशों की सीमाएं यूरोपीय नागरिकों के लिए बंद थीं। 1921 में पहली बार एवरेस्ट अभियान शुरू हुआ। इसकी खास वजह थी कि दलाई लामा इस बात के लिए राज़ी हो गए थे कि एवरेस्ट अभियान दल उनके देश की सीमाओं से होकर गुज़र सकते हैं। 1922 में फिर से एवरेस्ट तक पहुंचने की कोशिश की गई। हालांकि ये दोनों अभियान अपने लक्ष्य को नहीं साध सके लेकिन ये क्रमशः 26,700 फीट

चोटियों के नाम

हिमालय की सर्वोच्च चोटी को तिब्बत में 'शोमोलुंगम' नाम से जाना जाता था और नेपाल में 'सागरमाथा' नाम से पुकारा जाता था। अंग्रेज़ सर्वे टीम ने भी इस चोटी को सबसे ऊंचे शिखर के रूप में पहचाना और इसे चोटी नंबर-15 कहा। उस समय इस चोटी के लिए 'गौरीशंकर', 'देवधुंगा' आदि नाम भी सुझाए गए थे लेकिन तत्कालीन सर्वेयर जनरल ने सुझाव रखा कि सर्वोच्च चोटी का नाम भूतपूर्व सर्वेयर जनरल की याद में 'एवरेस्ट' रखना चाहिए। तब से 'एवरेस्ट' नाम अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचलित हो गया और शोमोलुंगम और सागरमाथा – तिब्बत और नेपाल की विरासत बनकर रह गए।

ऐसा नहीं है कि इस तरह के हादसे सिर्फ भारतीय उपमहाद्वीप में ही हुए हों। नामकरण की एक नज़ीर कुछ ऐसी भी है – यहां बात पूर्व सोवियत संघ की हो रही है। 1928 में सोवियत इलाके में पामीर पठार की चोटी काफमेन (23,406 फीट) पर फतह पाई गई। उस समय यह सबसे ऊंची सोवियत चोटी थी। सोवियत सरकार ने इसका नाम 'लेनिन चोटी' रख दिया। पांच साल बाद 1933 में स्टालिन के शासन काल में एक और ऊंची चोटी पर पर्वतारोही चढ़े तो पता चला यह 24,590 फीट ऊंची थी। यानी लेनिन चोटी से भी ऊंची; बहरहाल, इस चोटी को 'स्टालिन चोटी' नाम दिया गया। स्टालिन के बाद आए ख्रुसचेव ने स्टालिन के द्वारा शुरू किए गए कार्यक्रमों में सुधार का बीड़ा उठाया था इसलिए 'स्टालिन चोटी' का नाम बदलकर 'कम्यूनिज़्म चोटी' रख दिया गया।

और 27,230 फीट की ऊंचाई तक पहुंचने में सफल रहे। यहां इन पर्वतारोहियों की कुछ व्यवहारिक कठिनाइयों को समझना ज़रूरी है। एवरेस्ट अभियान से पहले दुनिया में कुछ ही लोग 20,000 फीट से ज़्यादा ऊंचाई तक पहुंच सके थे। 29,000 फीट की ऊंचाई पर शरीर काम करेगा इसे लेकर ही आशंकाएं व्यक्त की जा रही थीं। बर्फ में से होते हुए ऊपर चढ़ने के साधन, ठंड से बचाव के कपड़े-टेंट वगैरह कई बार अपर्याप्त महसूस होते थे। एवरेस्ट जैसी ऊंचाई पर ऑक्सीजन प्रदान करने वाले उपकरणों की ज़रूरत थी। उस समय मौजूद उपकरण भारी, पुरानी तकनीक वाले होने के साथ-साथ कम विश्वसनीय थे। इन सबके साथ सबसे महत्वपूर्ण ज़रूरत थी अंतिम शिखर तक चढ़ाई के वक्त एवरेस्ट पर अच्छे

ऑक्सीजन उपकरण की जांच-पड़ताल: 1953 के एवरेस्ट अभियान के दौरान एवरेस्ट शिखर से कुछ सौ फीट नीचे हिलेरी, तेनज़िंग के ऑक्सीजन उपकरण की जांच करते हुए। इससे पहले कई पर्वतारोहियों के साथ ऐसा भी हुआ कि उनके ऑक्सीजन देने वाले उपकरण ऐन मौके पर दगा दे गए और उन्हें मायूस होकर लौटना पड़ा। हिलेरी ऐसा कोई भी जोखिम नहीं उठाना चाहता था। बाद में अपने एवरेस्ट के संस्मरणों में हिलेरी ने बताया कि एवरेस्ट की निर्णायक चढ़ाई से पहले उन्होंने ऑक्सीजन की खपत और ऑक्सीजन की उपलब्धता का कई बार हिसाब लगाया था।

मौसम का होना।

इसके बाद एवरेस्ट के लिए 6-7 दलों ने कोशिश की लेकिन सफलता किसी के हाथ नहीं लगी। ये सभी कोशिशें तिब्बत वाले रास्ते से की गई थीं।

करो या मरो

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद नेपाल ने 1949 में अपनी सीमाओं से एवरेस्ट अभियान दलों को गुज़रने की अनुमति दी। अब एवरेस्ट

मेलोरी या इरविन की कुल्हाड़ी: 1924 के एवरेस्ट अभियान के दो पर्वतारोही जॉर्ज मेलोरी और एंड्र्यू इरविन एवरेस्ट तक पहुंचने की कोशिश के दौरान लापता हो गए थे। काफी खोजबीन के बाद भी यह पता न चल सका कि मेलोरी-इरविन एवरेस्ट शिखर तक पहुंच पाए थे या नहीं? लेकिन एक बात तय थी कि ये दोनों एक हादसे में मारे गए। लगभग 30 साल बाद 27,600 फीट की ऊंचाई पर यह बर्फ काटने वाली कुल्हाड़ी एक अभियान दल को मिली थी। यह कुल्हाड़ी मेलोरी की है या इरविन की यह पता नहीं चल सका। 1999 में एक अन्य अभियान दल को बर्फ में दबा मेलोरी का शव मिला था।
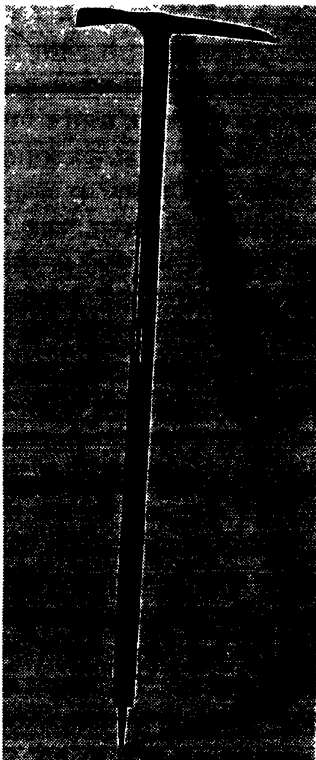
तक पहुंचने के लिए दक्षिणी रास्ता भी खुल गया था।

1953 का ब्रिटिश अभियान दल 'करो या मरो' वाली स्थिति में था। 1952 का स्विस दल एवरेस्ट तक लगभग पहुंच ही गया था। एक साल बाद स्विस दल दोबारा कोशिश करने वाला था। इस लिहाज़ से ब्रिटिश टुकड़ी को जो कुछ करना था इसी साल कर लेना था।

जॉन हंट के नेतृत्व में 13 सदस्यों वाले दल ने सफर शुरू किया। 26,000 फीट की ऊंचाई पर कैम्प लगाने के बाद आखिरी 3000 फीट के निर्णायक सफर के लिए चार सदस्यों का चयन किया गया। पहले दो सदस्य जब लक्ष्य पाने में असफल रहे तो एडमंड हिलेरी और तेनज़िंग नोर्गी को मौका मिला। इन दोनों ने 29 मई 1953 को एवरेस्ट फतह कर दिखाया। दुनिया की सबसे ऊंची चोटी को इंसानी कदमों ने नाप लिया था। उस चोटी पर 15 मिनट गुज़ारने के बाद वापसी का सफर शुरू हुआ।

एवरेस्ट के बाद क्या

हिमालय की 15 सर्वोच्च चोटियों पर फतह पाने के बाद नए रास्तों से इन चोटियों तक पहुंचने की कोशिशें की गई। पुरानी पीढ़ी के कुछ पर्वतारोही यह भी सोचते हैं कि एक बार एवरेस्ट पर पहुंचने के बाद पर्वतारोहियों के लिए करने को कुछ खास बचा नहीं था। बाद में सिर्फ विविध रिकॉर्ड कायम करने का काम ही रह गया था। शायद उनकी बात में कुछ दम है क्योंकि यदि आज रिकॉर्ड बुक उठाकर देखी जाए तो विगत 50 वर्षों में एवरेस्ट पर 1300 से ज़्यादा लोग पहुंच चुके हैं। इन एवरेस्ट विजेताओं को भी विविध श्रेणियों में बांटा गया है जैसे एवरेस्ट पर पहुंचने वाला – पहला भारतीय, पहला जापानी, पहली महिला, पहले पति-पत्नी, पहले भाई-बहन, बाप-बेटा, सबसे बूढ़ा, सबसे जवान, चार बार चढ़ने वाला, दस बार चढ़ने वाला, बिना ऑक्सीजन चढ़ने वाला, धीमा चढ़ने वाला, तेज़ चढ़ने वाला .... आदि। मौजूदा दौर में कोई अभियान दल आज कोई रिकॉर्ड बनाता है तो एकाध बार तो ऐसा भी हुआ है कि दो दिन बाद वह रिकॉर्ड टूट चुका होता है (जैसा कि हाल में गोल्डन जुबली वर्ष में हुआ है)। इन सब को देखकर सचमुच ऐसा लगता है कि अब एवरेस्ट एक चुनौती कम है लेकिन रिकॉर्ड बनाने का औज़ार ज़रूर बन गया है। एवरेस्ट फतह के पचास साल बाद भी लोगों के जोश में कोई कमी नहीं आई है। तकनीकी बदलावों के चलते एवरेस्ट पर चढ़ना अब पहले जैसा चुनौती भरा रहा भी नहीं है। पहले के अभियानों में दल के दो-चार सदस्यों को ही चोटी तक पहुंचने का मौका दिया जाता था। लेकिन अब ऐसा नहीं है। अब हर साल दर्जनों अभियान दल मोटी फीस चुका कर थोक के भाव में एवरेस्ट फतह का सुख लेते हैं। कई बार एवरेस्ट के पर्यावरण को खतरा बताते हुए अभियान दलों पर रोक लगाने की मांग भी उठती रही है, पर्वतारोहियों की संख्या को कम करने की बातें भी हुई हैं लेकिन सब जस-का-तस चल रहा है। किसी समय पर्वतारोहण एक रोमांचक अनुभव होता था, लेकिन अब रोमांचक खेल के साथ-साथ एक उद्योग बनकर उभर रहा है।

ध्रुव केलकरः संदर्भ पत्रिका से संबद्ध।
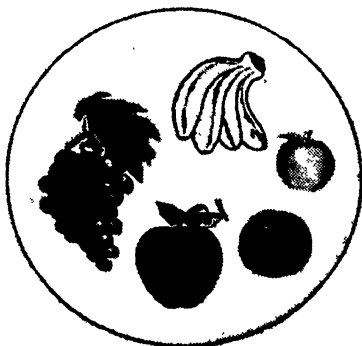
कहां गए वो आम?

उषा मेनन

पहली नज़र में आपको भा जाने वाली पाठ्यपुस्तक को जब एक शिक्षा शास्त्री के नज़रिए से देखते हैं तो निष्कर्ष कुछ और ही सामने आते हैं। पिछले साल एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित पहली कक्षा की गणित की पाठ्यपुस्तक के एक विशेष पहलू की समीक्षा।

एन.सी.ई.आर.टी. की पहली कक्षा की गणित की नई पाठ्यपुस्तक साज-सज्जा की दृष्टि से एक सुन्दर पुस्तक है।[1] अनेक बहुरंगी एवं स्पष्ट चित्रों की वजह से पुस्तक काफी आकर्षक बन गई है और मेरा विश्वास है कि बच्चे इस पुस्तक को पाकर बहुत खुश होंगे। अधिकांश अभिभावक और शिक्षक भी इस बात से काफी प्रसन्न होंगे कि अंततः एन.सी.ई.आर.टी. ने बच्चों की विशेष ज़रूरतों को समझा और पहले की नीरस पुस्तक को इस सुंदर पुस्तक से बदल दिया है।

लेकिन पुस्तक को ध्यान से देखने पर कुछ कमियां नज़र आने लगती हैं, जो और बारीकी से देखने पर बढ़ती जाती हैं। चलिए, शुरुआत एक सवाल से करते हैं – आखिर बच्चों की किसी पुस्तक में चित्रों की क्या

भूमिका है? निश्चित रूप से यह जो भी हो, इसे विज्ञापन से तो फर्क होना ही चाहिए। और यहां हम बच्चों की किसी साधारण पुस्तक की नहीं बल्कि पहली बार स्कूल जाने वाले बच्चे की पहली पुस्तक की बात कर रहे हैं। जिस किसी ने भी पहली कक्षा के बच्चों के अपने बस्ते और किताबों के साथ घनिष्ठ लगाव को ध्यान से देखा है, वह पहली पुस्तक का महत्व समझ सकता है। बच्चे इन्हें अत्यन्त मूल्यवान धरोहर की तरह संजोकर रखते हैं और उनके मनमस्तिष्क पर इसकी चिरस्थाई छाप बनी रहती है। यहां मैं बच्चों की उस बड़ी संख्या की बात कर रही हूं जिनके लिए पहली कक्षा की पुस्तकें ही उनकी पहली पुस्तकें होती हैं। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि ऐसी किसी पुस्तक में दिए गए चित्र कैसे होने चाहिए और उनकी भूमिका क्या होनी चाहिए?

बच्चों के लिए किताब के मायने

पहली पुस्तक में दिए गए चित्र और शब्द बच्चों के लिए अर्थ का एक नया संसार खोलते हैं। उनके लिए शब्दों के अर्थ परिस्थितियों के समरूप होते हैं – भाव तथा क्रिया से भरे हुए। फिर वे शब्दों में ढलते हैं और शब्दों से ध्वनियों में। फिर चित्रों और लिखे हुए शब्दों का एक दूसरा माध्यम प्रकट होता है। और इन सबके द्वारा बच्चा अनुभव किए जा सकने योग्य चीज़ों को व्यक्त करने के दूसरे तरीकों को सीखता है। ऐसे भी कहा जा सकता है कि एक पांच वर्षीय बालक एक किस्म से 'संकेतों की दुनिया' में रहता है। नए-नए अभिप्राय, अपने विभिन्न रूपों में अर्थ और उनके विभिन्न संयोजनों की रचना को अतिरिक्त आयाम देते हैं। किन्तु इन सब के पीछे अनुभवजन्य यथार्थ का परिपोषक आधार होता है। इस यथार्थ को न केवल अनुभव कर सकते हैं बल्कि इसका पालन भी किया जा सकता है। यदि इस यथार्थ को कागज़ पर व्यक्त करना साक्षर होने का महत्वपूर्ण अंग है तो इन चित्रों को भी उसी मानदंड पर आंका जाना चाहिए, न कि किसी विज्ञापन के मानक पर।[2] संभवतः एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तक को देखने पर होने वाली परेशानी उस विशाल खाई के कारण होती है जो किसी भी औसत भारतीय बालक ही नहीं, हिन्दुस्तान के प्रत्येक बच्चे के अनुभवजन्य ज्ञान और इस पुस्तक के चित्रों के बीच उपस्थित है।

पुस्तक पर एक सरसरी दृष्टि डालने से ही यह समझ में आने लगता है कि चित्र किसी अमेरिकी चित्रकथा या पाठ्यपुस्तक से लिए गए हैं, यद्यपि इसके लिए कहीं कोई आभार व्यक्त नहीं किया गया है। विदेशी चित्रों पर निर्भरता किसी एक छोटे-से अंश तक सीमित नहीं बल्कि सर्वव्यापक है।

तालिका 1 विभिन्न फलों के चित्रों की पृष्ठ संख्या

सेब	अंगूर	केला	नाशपाती	आड़ू	संतरा	पहाड़ी बादाम	चेरी	अनानास
9	23	32	35	27	53	22	99	147
10	24	39	53	36	147			
31	47	53	147					
53	81	54						
96	147	99						
147								

पूरी किताब में हरेक पृष्ठ पर कौन-कौन से फलों के चित्र बने हैं उनकी पड़ताल करने के बाद, यहां हरेक फल के चित्र किन-किन पृष्ठों पर हैं यह दिखाया गया है। उदाहरण के लिए नाशपाती वाले स्तंभ में लिखे 35, 53 और 147 वे पृष्ठ क्रमांक हैं जिन पर नाशपाती के चित्र बने हैं।

किताब में पाए जाने वाले देवदूत जैसे गुलाबी चेहरे वाले बाल-चरित्र से लेकर फ्लिंट स्टोन्स कॉमिक के चरित्र, या पशु, या गुड़िया, या घर-गृहस्थी का सामान – स्पष्टतः सभी किसी दूसरी संस्कृति के सामाजिक परिवेश का भाग लगते हैं।

दूसरी संस्कृति परहेज़ नहीं लेकिन

किसी दूसरी संस्कृति की बातें जानने में कोई हानि नहीं है जबकि हम यह जानते हैं कि हम सब पृथ्वी पर एक साथ रहते हैं और एक-दूसरे से सीखते हैं। किन्तु क्या हमारी अपनी संस्कृति और अपने परिवेश में स्थित चीज़ों को हटाकर ऐसा करना उचित होगा? और वह भी किस उम्र में? किस उद्देश्य से? वास्तव में हमारे अपने पर्यावरण से संगति रखने वाला एक भी चित्र इस पुस्तक में ढूंढे नहीं मिलता। किताब के पृष्ठ आठ पर एक स्त्री का चित्र अपवाद हो सकता है पर वह भी ऐसा दिखता है जैसे उसे किसी तकनीकी विधि से साड़ी पहना दी गई हो।

एन.सी.ई.आर.टी. की इस नई पाठ्यपुस्तक का सबसे बड़ा दोष यह है कि पूरी पुस्तक में कहीं पर भी आम का चित्र नहीं दिया गया है। जितना मुझे याद है हमारे पुस्तक लेखक हमेशा से ही चित्रों के ज़रिए जोड़-घटाव आदि सिखाने के लिए आम के चित्रों का इस्तेमाल करते आए हैं।

भारतीय परिवेश का एक चित्र जिसमें साड़ी तकनीकी कमाल के चलते पहनाई हुई प्रतीत होती है।

पहाड़ी बादाम एक बार फिर सोचने पर मजबूर करता है कि यह किस जगह का फल है?

यह चार पहियों वाली गाड़ी न हमारे यहां की बैलगाड़ी नज़र आती है, न तांगा – क्योंकि यह सैंकड़ों साल पहले अमरीकी पुरोधाओं द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली बग्घी का चित्र है।

गणित के सवालों में इस्तेमाल की गई ये हट्टी-कट्टी, लंबे कानों वाली गिलहरियां भी उत्तरी अमरीका से चुराई गई हैं।

एन.सी.ई.आर.टी. के पूर्व संस्करण में इतने अधिक चित्र नहीं थे पर उनमें भी आम के चित्र अवश्य मौजूद थे। उनमें अंक सात को प्रदर्शित करने के लिए सात पके-अधपके सुस्वादु आमों का चित्र बना हुआ था। परन्तु इस नए संस्करण में जहां छह जगह चित्रों में सेब व अन्य 19 चित्रों में विविध फल दिखते हैं, आम का एक भी चित्र नहीं है। कोई यह तर्क भी दे सकता है कि सेब अब पहले की तुलना में अधिक उपलब्ध हैं, लेकिन फिर भी क्या हमारे अच्छे प्यारे आमों के लिए थोड़ी-सी जगह भी नहीं होनी चाहिए?[3] भारत के ज़्यादतर हिस्सों में बच्चों के लिए आम अभी भी एक जाना-पहचाना फल है। यहां हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भारत के अन्य पाठ्यपुस्तक लेखकों के लिए एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकें प्रतिमान का काम करती हैं।

मामला सिर्फ आम का नहीं

प्रश्न आम के होने, न होने या पुस्तक में शीघ्र ही आम का कोई चित्र चिपका देने का नहीं है। इस पुस्तक के चित्र शिक्षा के प्रति एक विशेष तरह का झुकाव दर्शाते हैं और पुस्तक निर्माण कार्य को गंभीरता से नहीं लिए जाने की ओर इंगित करते हैं। समस्या आमों को नाशपातियों से बदल देने की नहीं बल्कि किस तरह के चित्र इस्तेमाल किए जा रहे हैं इसकी तरफ ध्यान नहीं देने और स्थानीय सामग्री को पूर्णतः नकार देने की है। यहां तक कि अधिकांश शिक्षक भी पृष्ठ 22 पर दिए गए पहाड़ी बादाम के चित्र को पहचान नहीं पाएंगे। केले और अंगूर के चित्रों को देखने पर भी यह शंका होने लगती है कि उन्हें भी शायद इसलिए नहीं चुना गया कि भारतीय बच्चे उन्हें जानते हैं बल्कि इसलिए कि वे अमेरिका में 'बनाना रिपब्लिक' से आयातित किए जाते हैं या कैलिफोर्निया में उगाए जाते हैं और अमेरिकी बच्चों की किताबों में पाए जाते हैं।

इसी तरह किताब में सांवले चेहरे केवल वहीं दिखते हैं जहां अफ्रीका वासियों को चित्रित किया गया है – वो भी इस तरह जैसे कि पिछली पीढ़ी की अमेरिकी किताबों में उन्हें कार्टून के रूप में दर्शाया जाता था।

चित्रों का अपरिचित स्रोत केवल फलों व सब्ज़ियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि हर चित्र पर इसकी छाया झलकती है। बच्चों की इस पहली किताब में सुपरिचित चीज़ें भी अलग-सी दिखती हैं। इसी कारण पृष्ठ 21 व 31 में दर्शाई गई बैलगाड़ी या तांगा भी जाने-पहचाने नहीं लगते। लेकिन अमेरिकी इतिहास से परिचित व्यक्ति अमेरिकी पुरोधाओं की इस बग्घी/गाड़ी को आसानी से पहचान सकता है। पृष्ठ 23 पर बनाई गई उत्तरी

बच्चों से पांच का अंक लिखवाना है। लेकिन 5 एकदम ही अमूर्त न लगे इसलिए पांच मानवीय आकृतियां बनी हुई हैं। यह बात अलग है कि ये मानवीय आकृतियां बच्चों के परिवेश से बिल्कुल भी संबंधित नहीं हैं।

अमेरिका की लंबे झब्बा कानों वाली गिलहरी और हमारी परिचित छोटी गिलहरी में साम्य नहीं देख पाने के लिए हम बच्चों को दोषी नहीं ठहरा सकते। ऐसा ही कुछ सुअरबाड़े में बंधे सफेद सुअर, या गुड़िया, या ऐसे ही बहुत सारे अन्य चित्रों के बारे में भी कहा जा सकता है। यहां मैं सुविस्तृत होने का प्रयास नहीं कर रही हूं।

एन.सी.ई.आर.टी. की लापरवाही का इससे और विचित्र नमूना क्या हो सकता है कि पृष्ठ 44 पर अंक पांच को प्रदर्शित करने के लिए बने चित्रों में दर्शाई गई ब्रुनेट (भूरे बालों वाली विदेशी स्त्री) और ब्लांड (पीले-सुनहरी बालों वाली स्त्री) महिलाओं के बालों के रंग भी नहीं बदले गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एन.सी.ई.आर.टी. यह जतलाना चाहती है कि हमारे आसपास स्थित सुपरिचित वस्तुएं, पुस्तकों में दर्शाए जाने योग्य नहीं हैं।

इन अमरीकी चित्रों की नकल करके एन.सी.ई.आर.टी. ने बच्चों की किताबों में किस तरह के चित्र होने चाहिए, इस संदर्भ में दिए गए दुनिया भर के शिक्षा शास्त्रियों के सुझावों की अनदेखी की है। दरअसल एन.सी.ई.आर.टी. से यह आशा थी कि अपने लोगों के अनुभवों के बारे में लिखते हुए उसने कम-से-कम दूसरी संस्कृतियों के प्रामाणिक चित्रण के संबंध में अमरीकी अनुशंसाओं का ही पालन किया होता।[4]

हमारी पाठ्यपुस्तकों में हमारे देश की विविधता को प्रस्तुत करने में हमेशा

पक्षपात देखा गया है। और इस संदर्भ में हमेशा व्यंग्यात्मक चित्रों का इस्तेमाल किया जाता है। मगर इस दृष्टि में यह पुस्तक कोई पक्षपात नहीं करती क्योंकि यह इसे इस्तेमाल करने वाले सभी बच्चों के लिए एक-समान रूप से पराई होगी!

यह समझना बहुत ही महत्वपूर्ण है कि पुस्तकों में चित्रांकन को कोई हाशिए की चीज़ समझकर नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। इसके विपरीत इनकी भूमिका बहुत गहन और बुनियादी होती है। मुझे अभी भी उन सब बच्चों के चेहरे बहुत स्पष्ट रूप से याद आते हैं जब हम एक दिन उनकी कक्षा में नीम की एक टहनी ले गए और उनसे पत्तियों का चित्र बनाने को कहा। पूरा ही अनुभव अत्यंत रोमांचकारी था। कागज़ पर उस चीज़ को बनाना जो तब तक केवल एक बाहरी वस्तु थी या कागज़ पर उस चीज़ को पहचानना जो अब तक केवल आसपास देखी जाती थी, एक नए
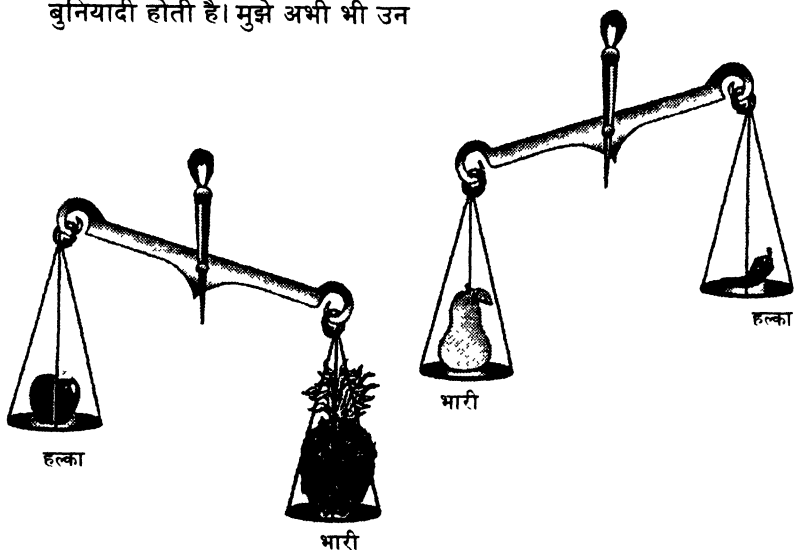
बच्चों को 'हल्के और भारी' की अवधारणा समझाने की कोशिश की जा रही है। तराजू के पलडे देख कर बच्चे शायद समझ जाएं कि कौन-सी चीज़ भारी है और कौन-सी हल्की। अवधारणा के स्तर पर शायद किसी को कोई आपत्ति है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। लेकिन यहां जो तराजू दिखाए गए हैं वे उत्तरी अमरीका में बहुप्रचलित हैं, जिनमें कांटा नीचे की ओर होता है। भारत में ऐसे तराजू ढूंढने पर भी मिलना मुश्किल है।

आयाम को जन्म देता है। एक बार परिंदा उड़ना सीख जाए तो फिर अनजानी दुनिया में भी उड़ान भर सकता है। लेकिन ऐसे नए आयाम के शुरुआत में ही एकदम अजनबी चीज़ों की क्या भूमिका है?

तराजू भी उलटी

इन चित्रों के दूसरे गंभीर परिणामों की ओर मेरी युवा सहकर्मी रजनी ने मेरा ध्यान दिलाया। इसे पृष्ठ 147 पर दिए गए भारी व हल्की वस्तुओं को दर्शाने वाले चित्र में देखा जा सकता है। इसमें तराजुओं के कांटे नीचे की ओर दिखते हैं जो कि उत्तरी अमेरिका में एक सामान्य बात हो सकती है पर हमारे यहां नहीं। हमारे यहां सब्ज़ी की दुकानों में दिखने वाले साधारण तराजू से परिचित पांच साल का बच्चा इसे देखकर निश्चित रूप से चकरा जाएगा। हमारे यहां डंडी से लगा तराजू का कांटा, डंडी के ऊपर की ओर दाएं-बाएं हिलता है और अधिक भार की ओर झुक जाता है। एन.सी.ई.आर.टी. की पुरानी पुस्तकों में इसी किस्म के देशी तराजू के चित्र थे। इन चित्रों की तुलना कक्षा दो की पुरानी पुस्तकों के चित्रों से करने पर हमें बदलाव की दिशा तुरंत समझ में आ जाती है। आम, नारियल, कद्दू और तरबूज़ के साथ-साथ अपना जाना-पहचाना तराजू भी इस नई किताब से गायब है।

निश्चित रूप से पुरानी पुस्तकों के रेखाचित्रों में सटीकता और आकर्षण की दृष्टि से काफी कमियां थीं। अब रंगीन चित्रों के आ जाने से वह परिस्थिति बदल गई है, लेकिन शिक्षा शास्त्र के नज़रिए से इस नई परिस्थिति
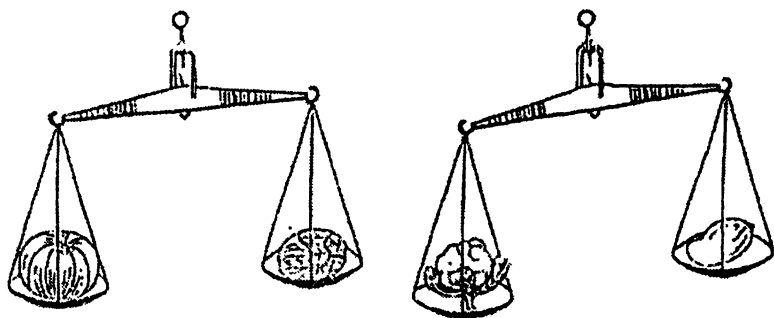
एन.सी.ई.आर.टी. कक्षा -2 के पुराने संस्करण (सन् 1988) में भारत में आमतौर पर प्रचलित तराजू का रेखाचित्र होता था। इस तराजू से पांच-छह साल का बच्चा भी परिचित होता है। लेकिन नई किताब में दिए तराजू भ्रम की स्थिति पैदा कर सकते हैं।
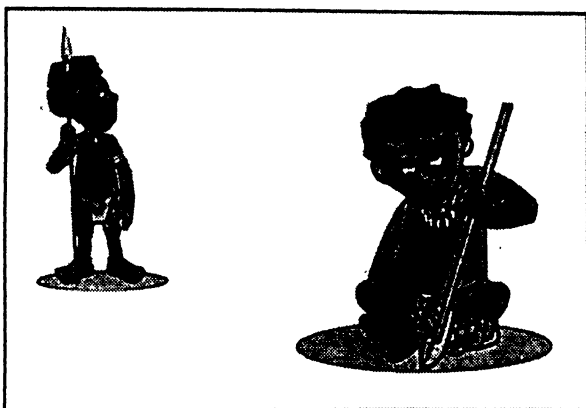
यहां बच्चों को 'दूर-पास' की अवधारणा से वाकिफ करवाया जा रहा है लेकिन चेहरे आफ्रिका के मूलनिवासियों के हैं। शायद अमरीकी किताबों की परम्परा को ही यहां आगे बढ़ाया गया है।

के काफी गंभीर परिणाम हो सकते हैं।

गैर ज़रूरी किफायत

हम आमतौर पर उन निजी पुस्तक प्रकाशकों की हमेशा आलोचना करते हैं जो बच्चों की पुस्तकों के चित्रांकन के लिए अन्य स्रोतों से चित्रों की नकल कर लेते हैं। किन्तु हम यह भी जानते हैं कि वास्तविक चित्रांकन काफी महंगा पड़ता है और इसलिए कई बार कारण समझ में आता है। लेकिन एन.सी.ई.आर.टी. के मामले में यह समझना मुश्किल है। निश्चित रूप से हमारा देश बच्चों के लिए अर्थपूर्ण पुस्तकें बनाने पर कुछ धन तो खर्च कर ही सकता है। लाखों बच्चों द्वारा उपयोग की जाने वाली पुस्तकों के लिए लागत में इस तरह की बचत करना तर्कसंगत नहीं है। यहां हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि चित्रांकन के प्रति ऐसा रवैया इस पुस्तक में इस्तेमाल की गई संरचनात्मक शैक्षणिक प्रक्रिया से उपजने वाली खामियों के अलावा है।

यह भी विचारणीय है कि एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक श्री जे. एस. राजपूत को इन चित्रों से कोई समस्या नहीं थी क्योंकि उन्होंने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखी है। यह पुस्तक वास्तव में संस्कृति की हमारी समझ पर कई बुनियादी सवाल उठाती है। दुर्भाग्यवश आज 'हमारी संस्कृति' वह अस्त्र बन गई है जिससे हम संकीर्ण निहित स्वार्थों के युद्ध लड़ते हैं। जबकि

हमारी वास्तविक संस्कृति कभी न खत्म होने वाला वह भंडार है जो शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा इस्तेमाल किए जाने की प्रतीक्षा कर रहा है। इस रोज़मर्रा की संस्कृति में लोगों द्वारा आम खाना, पत्तों पर भोजन करना, और ऐसी ही अनेक छोटी-छोटी बातें भी समाहित हैं। इसमें शामिल है दिल्ली की ब्लू-लाइन बसों में टिकट के लिए पैसे आगे बढ़ाते जाना और लंबी दूरी की रेलयात्राओं में एक-दूसरे के साथ अपना भोजन बांटना। अपने लोगों के इस अनुभवजन्य यथार्थ से जुड़ना सीखकर हम सामूहिक हितों के नज़दीक कई मूल्यवान अर्थ खोज सकते हैं। ऐसा लगता है कि एन.सी.ई.आर.टी. ने शिक्षा की इस पहली मुख्य ज़िम्मेदारी को ही भुला दिया है।

टिप्पणियां :

1. एन.सी.ई.आर.टी. (2002) – वी.पी. गुप्ता और ईश्वर चन्द्र – आओ गणित सीखें, कक्षा एक की पहली पुस्तक। एन.सी.ई.आर.टी. फरवरी 2002 संस्करण।
2. इससे मेरा यह आशय कतई नहीं है कि बच्चों की कहानियां और चित्रों को संपूर्णतः किसी यथार्थवादी परंपरा का पालन करना चाहिए। हम सभी जानते हैं कि बच्चों को भूतप्रेतों की कहानियां अच्छी लगती हैं, पर भूतप्रेतों की सामाजिक उपस्थिति अत्यन्त वास्तविक होती है!
3. वास्तव में कोई यह भी कह सकता है कि ये चित्र हमारे समाज में सेब की महिमापूर्ण स्थिति को दर्शाते हैं, जो इसके तुलनात्मक पोषक मूल्य के अनुरूप कतई नहीं होती है।
4. उदाहरण के लिए टेंपल, मार्टिनेज़, योकोता और नेलर (1998) कहते हैं कि –"चित्रण को सटीक, प्रदर्शित काल के अनुरूप और सांस्कृतिक रूप से प्रामाणिक होना चाहिए। वे किसी सांस्कृतिक समुदाय को रुढ़िवादी या सजातीय तरीके से प्रस्तुत कर उनका उपहास न कर रहे हों। अलग-अलग समूहों की विभिन्नता प्रदर्शित करते हुए भी उनके शारीरिक लक्षणों को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं दिखाना चाहिए। सांस्कृतिक छवियों के संप्रेषण में चित्रांकन का बहुत अधिक महत्व होता है, विशेष तौर पर चित्र कथाओं में।" सी. टेंपल, एम. मार्टिनेज़, जे. योकोता, और ए. नेलर; चिल्ड्रन्स बुक्स इन चिल्ड्रन्स हैंड्स – नीढम हाइट्स; एलिन और बेकन।

उषा मेनन: दिल्ली में स्थित नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ सायंस एंड टेक्नोलॉजी डिवेलपमेंट स्टडीज़ में कार्यरत हैं। साथ ही दिल्ली में 'जोड़ो-ज्ञान' संस्था के ज़रिए बच्चों के लिए शैक्षिक खिलौनों और गणित शिक्षण पर काम कर रही हैं।

हिन्दी अनुवाद: निशांत: शौकिया अनुवादक, भोपाल में रहते हैं।

संदर्भ मराठी और गुजराती में
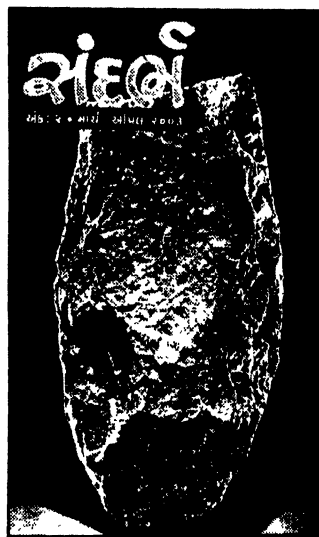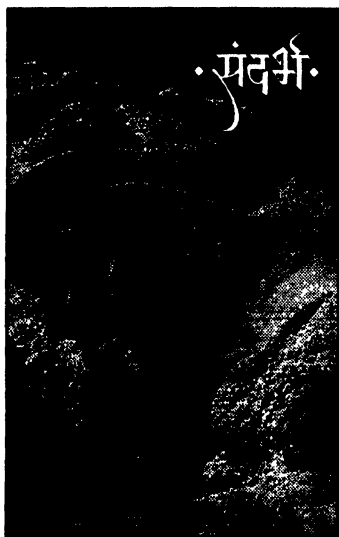
मराठी संदर्भ की सदस्यता दरें इस प्रकार हैं
एक प्रतिः 20 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्कः 125 रुपए

गुजराती संदर्भ का प्रथम अंक प्रकाशित हो चुका है। वार्षिक
सदस्यता शुल्कः 150 रुपए

सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेज सकते हैं।

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें।

नचिकेता ट्रस्ट
21 महालक्ष्मी सोसायटी
धरमपुर, ज़िला वलसाड
गुजरात 396050

संदर्भ, द्वारा पालकनीती
अमृता क्लिनिक, संभाजी पुल कॉर्नर
कर्वे रोड़, पुणे, पिनः 411004
फोनः 25441230

बात कुछ साल पहले की है। अखबारों में एक दिलचस्प खबर छपी थी, तिरुपति के सरकारी अस्पताल में ऑक्सीजन का एक भी सिलिंडर न होने के कारण संकट पैदा हो गया था। अस्पताल प्रशासन बाज़ार से ऑक्सीजन नहीं खरीद सका क्योंकि शासकीय खज़ाने ने ऑक्सीजन संबंधी बिल पास करने से इंकार कर दिया।

शासकीय खज़ाने ने बिल पास न करने का आधार यह बताया कि प्रावधान मात्र दवाएं खरीदने के लिए है, ऑक्सीजन के लिए नहीं। उनके मुताबिक ऑक्सीजन कोई दवा नहीं है। अस्पताल के अधिकारियों का कहना था कि ऑक्सीजन एक जीवनदायी पदार्थ होने के नाते निश्चय ही एक दवा है।

प्राण वायु: पृथ्वी पर एक लंबा सफर

डी. बालसुब्रमण्यन

इस कार्यप्रणाली के चक्कर में अस्पताल में एक महीने तक ऑक्सीजन का अभाव रहा और सारा झगड़ा इस बात को लेकर चला कि ऑक्सीजन दवा है या नहीं। इस मामले में नौकरशाही की लापरवाही की बात के अलावा मेरी दिलचस्पी इस बात में भी रही कि आखिर दवा की सटीक परिभाषा क्या हो।

क्या है दवा के मायने

रेंडम-हाउस डिक्शनरी से पता चला कि दवा कोई भी ऐसा रासायनिक पदार्थ है जिसका उपयोग किसी व्यक्ति या जानवर की किसी बीमारी का इलाज, रोकथाम करने या किसी अन्य तरह से उसकी शारीरिक या मानसिक सेहत बेहतर बनाने के लिए किया जाता है। इस परिभाषा के आधार पर मुझे विश्वास है कि तिरुपति उप-कोषालय के लोग इस बात पर सहमत होंगे कि ऑक्सीजन वाकई एक ऐसा पदार्थ है जो किसी व्यक्ति की शारीरिक या मानसिक सेहत को सुधार सकता है। यदि इसका उपयोग न किया जाए तो व्यक्ति या पशु की बेहतरी खतरे में पड़ सकती है। इसमें कोई संशय नहीं है कि ऑक्सीजन से एनोरेक्सिया एस्फिक्सिएशन (ऑक्सीजन की कमी से दम घुटना) नामक बीमारी की रोकथाम व इलाज हो सकता है। और वैसे भी ताज़ा हवा की सांस से जब

हम तरोताज़ा महसूस करते हैं, वह दरअसल हवा में मौजूद ऑक्सीजन की वजह से ही होता है।

प्रीस्टली के निष्कर्ष

यह बात सबसे पहले ब्रिटिश वैज्ञानिक जोसेफ प्रीस्टली ने बताई थी। यह करीब दो सदी पहले की बात है। पाठकों को शायद मालूम हो कि इससे पहले हवा को एक तत्व समझा जाता था। प्रीस्टली ने सन् 1774 में एक प्रयोग द्वारा सिद्ध किया था कि हवा में ऑक्सीजन भी मौजूद होती है। प्रीस्टली ने यह भी दिखाया कि मोमबत्ती हवा के बजाए ऑक्सीजन में बेहतर जलती है और चूहे को यदि ऑक्सीजन से भरे बर्तन में रखा जाए तो वह मज़े में सांस लेता है। बेंजामिन फ्रेंकलिन को लिखे अपने प्रसिद्ध पत्र में प्रिस्टली ने कहा था कि आज तक सिर्फ दो चूहों को और खुद उन्हें ऑक्सीजन सूंघने का गौरव प्राप्त हुआ है, शेष लोग हवा में सांस लेते हैं। ये प्रीस्टली ही थे जिन्होंने सबसे पहले यह खोज निकाला कि धूप में पौधे ऑक्सीजन छोड़ते हैं। आज हम इसे प्रकाश संश्लेषण के नाम से जानते हैं। उन्होंने अपने समकालीन वैज्ञानिकों से काफी पत्र व्यवहार किया था।

फ्रांस के एंतॉन लेवाइज़े ने भी प्रीस्टली से सुना था कि कैसे उन्होंने हवा में से ऑक्सीजन अलग की और ऑक्सीजन के गुण क्या हैं। लेवाइज़े ने ही स्वतंत्र रूप से प्रीस्टली के प्रयोगों की पुष्टि की। इसके साथ ही रसायन शास्त्र के एक युग का अंत और दूसरे की शुरुआत हुई। ऑक्सीजन की खोज के साथ ही अनावश्यक व रहस्यमय पदार्थ 'फ्लॉजिस्टॉन' का देहावसान हुआ और परिमाणात्मक रसायन शास्त्र का आगमन हुआ। इसके कुछ ही समय बाद यह पता लगा कि पानी का एक अवयव ऑक्सीजन है, और हाइड्रोजन को हवा या ऑक्सीजन में जलाने पर पानी प्राप्त होता है। नामकरण पद्धति के अजीबो-गरीब घालमेल के कारण हाइड्रोजन को नाम मिला पानी पैदा करने के गुण से और ऑक्सीजन का नाम आया अम्ल पैदा करने के गुण से।

धरती पर ऑक्सीजन का आगमन

हम आमतौर पर ऑक्सीजन को अपनी वास्तविकता का अभिन्न अंग मानकर चलते हैं। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि हमारी धरती पर ऑक्सीजन हमेशा से नहीं रही है। दरअसल यह तो हमारे वायुमंडल में देर से आगमन करने वालों में से है – करीब 2 अरब वर्ष पूर्व। समयावधि का थोड़ा अंदाज़ रखने के लिए आपको शायद मालूम हो कि हमारा ब्रह्मांड करीब 15 अरब वर्ष पहले एक महाधमाके से शुरू हुआ। हमारी पृथ्वी मात्र साढ़े चार अरब वर्ष पहले

अस्तित्व में आई। बचपन में हमारी पृथ्वी सचमुच एक आण्विक बगीचा थी। सरल अणुओं से क्रमिक रूप में जटिल अणु विकसित हो रहे थे। जो अणु उस समय के तापमान, दबाव और पर्यावरण के अन्य कारकों को झेल सकते थे, वे स्थाई व टिकाऊ रहे। जो नहीं झेल पाए, वे अन्य पदार्थों में बदल दिए गए।

चार्ल्स डार्विन ने जिस तरह की चयन प्रक्रिया सुझाई है कुछ वैसी ही प्रक्रिया वास्तव में पहले आण्विक स्तर पर हुई। इसी आण्विक व रासायनिक विकास के आधार पर बाद में जीवन की उत्पत्ति हुई और जैव-विकास संभव हुआ। करीब 4 अरब साल पहले इस दौर में, विश्वास किया जाता है कि पृथ्वी का वायुमंडल अवकारक (रिड्युसिंग यानी अनॉक्सीकारक) था और इसके प्रमुख घटक मीथेन, हाइड्रोजन सल्फाइड, नाइट्रोजन, कार्बन डायऑक्साइड, अमोनिया और पानी थे। कुछ मात्रा में शायद हाइड्रोजन रही हो पर हमारी पृथ्वी इतनी विशाल नहीं है कि हाइड्रोजन जैसी हल्की गैस को अपने गुरुत्वाकर्षण से बांधे रख सके। ज़्यादातर हाइड्रोजन अंतरिक्ष में पलायन कर गई। तो ऐसे सरल रसायनों के इस्तेमाल से पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति हुई। करीब साढ़े तीन अरब साल पहले तालाबों और झीलों के किनारे की हरी काई और नीली-हरी शैवालें उसी दौर की विरासत हैं। तब से लेकर आज तक उनके टिक पाने का कारण है उनकी न्यूनतम ज़रूरतें – उन्हें सिर्फ थोड़ी धूप, थोड़ा पानी, थोड़ी कार्बन डायऑक्साइड और थोड़ी-सी मिट्टी चाहिए, और इस सबसे वे खुद अपना भोजन बना लेते हैं; मज़े में जीते हैं और प्रजनन करते हैं। इसके विपरीत हम इंसानों को मात्र ज़िंदा रहने को दर्ज़नों चीज़ें लगती हैं और प्रजनन में पूरा एक साल। इतनी सादगी, और एक घंटे से भी कम की प्रजनन अवधि के रहते कोई अचरज की बात नहीं कि बैक्टीरिया करोड़ों वर्षों के उपलब्ध समय में पृथ्वी पर प्रमुख जीव बन गए। इन बैक्टीरिया ने प्रकाश संश्लेषण के ज़रिए अपना भोजन बनाते हुए प्रशंसनीय संघर्ष किया और धरती को वह हरा रंग दिया जिसे आज हम वनस्पति से जोड़ते हैं। इन प्राचीन पौधों का एकमात्र अवशिष्ट या गौण पदार्थ ऑक्सीजन तत्व था।

ऑक्सीजन का साम्राज्य

साढ़े तीन करोड़ साल से ढाई करोड़ साल पहले के बीच के दौर की ज़रा कल्पना कीजिए। शैवाल, मॉस, वनस्पतियां और झाड़ियां इस दौर में फली-फूली क्योंकि उस वक्त के हालातों से यही जूझ पाईं। इनमें से हरेक ने कार्बन डायऑक्साइड, पानी और कुछ

तत्वों को जोड़ा और सूर्य के प्रकाश का उपयोग करते हुए ऑक्सीजन छोड़ी। एक अरब साल की प्रकाश संश्लेषण की क्रिया का समग्र प्रभाव यह हुआ कि पूरा वायुमंडल ऑक्सीजन से 'प्रदूषित' हो गया। यह करीब 2 अरब साल पहले की बात है। और यह प्रदूषण कोई कम नहीं था, हवा के आयतन का करीब 20 प्रतिशत ऑक्सीजन ने घेर लिया। हाइड्रोजन एवं हीलियम की तरह ऑक्सीजन पलायन नहीं कर सकती क्योंकि यह हाइड्रोजन की बनिस्बत सोलह गुना भारी होती है और इसलिए इसकी गति हाइड्रोजन की तुलना में मंद होती है। ऑक्सीजन कभी भी इतनी गति हासिल नहीं कर सकती कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से पार पा सके और इसलिए यह हमेशा हमारे वायुमंडल में कैद रहती है।

जब हम ऑक्सीजन को प्राणदायी गैस कहते हैं तो हम एक विचित्र तरह के अहंकार का प्रदर्शन करते हैं जिस पर प्राचीन बैक्टीरिया और सूक्ष्मजीवों को निश्चय ही आपत्ति हो सकती है। क्योंकि कार्बन डायऑक्साइड, नाइट्रोजन और पानी की तुलना में ऑक्सीजन तो डायनामाइट है, यह बहुत क्रियाशील है। थोड़ा-सा प्रोत्साहन मिलने पर यह कई पदार्थों से क्रिया करके उन्हें ऑक्सीकृत कर सकती है। कोई भी केमिकल इंजीनियर आपको बताएगा कि ऑक्सीकरण दरअसल जलने या दहन का ही आकर्षक नाम है। ऑक्सीजन के उदय के साथ ही पृथ्वी का वातावरण अवकारक से बदलकर ऑक्सीकारक हो गया।

इस प्रकार से, करीब दो अरब साल पहले पृथ्वी पर एक महान संकट पैदा हुआ – उन प्रजातियों के लिए जो अब तक की ऑक्सीजन रहित परिस्थितियों के लिए अनुकूल थीं। इन प्रजातियों को अब पर्यावरण के नए घटक से जूझना था जो धीमे किंतु निश्चित तौर पर उनकी कोशिकाओं के कई पदार्थों से क्रिया कर सकता था। जो जीव इस ज़हरीली ऑक्सीजन को झेल पाए वे तो फले-फूले, परंतु जो इसे सहन नहीं कर सके वे नेस्त-नाबूद हो गए।

जीव वैज्ञानिक इस प्रक्रिया के लिए कई शब्दों का उपयोग करते हैं – प्राकृतिक चुनाव, चयन का दबाव, अनुकूलन, सर्वश्रेष्ठ का चुनाव, आदि। यदि करोड़ों शैवालों में से 10-20 भी ऐसे हों जो ऑक्सीजन को सहन कर सकें तो ये 10 विचित्र शैवाल ऑक्सीजन को पचाकर जीवित रहेंगे और लंबी दौड़ में यही 'विजेता' बनेंगे।

इनमें से कुछ शैवाल ऐसे भी हो सकते हैं जो ऑक्सीजन का इस तरह उपयोग करें कि इससे उन्हें ज़्यादा ऊर्जा मिलने लगे; और जब इस सबके लिए करोड़ों साल का समय हो और प्रति
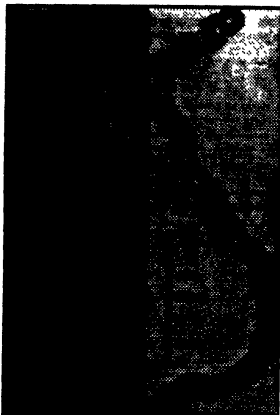
धरती पर शुरुआती जीवन की खोजबीन के दौरान 1993 में पश्चिमी आस्ट्रेलिया की चट्टानों में कुछ जीवाश्म मिले हैं। ये जीवाश्म साढ़े तीन अरब साल पुराने हैं। इसे जे. विलियम स्कूप ने खोज निकाला था। स्कूप यह मानते हैं कि ये जीव साइनोबैक्टिरिया समूह से संबंधित हैं और संभवत: प्रकाशसंश्लेषण भी करते थे। यहां चित्र में जीवाश्म के माइक्रोफोटोग्राफ के साथ उसका रेखाचित्र भी बना है।

घंटे कोशिकाएं एक से दो, दो से चार हो रही हों, तो कुछ भी, वाकई कुछ भी संभव है; और हुआ भी यही, माइटोकोंड्रिया के रूप में बिल्कुल यही हुआ। माइटोकोंड्रिया वाकई एक ऑक्सीजन आधारित व्यवस्था है। जो ऑक्सीजन एक ऑक्सीजन रहित व्यवस्था के लिए ज़हर है वही माइटोकोंड्रिया के लिए अमृत है। और सबसे ज़बर्दस्त रणनीति तो यह उभरी कि ऑक्सीजन युक्त और ऑक्सीजन रहित वातावरण दोनों से सामंजस्य — ऐसे जीवों का विकास हुआ जो माइटोकोंड्रिया पर कब्ज़ा करके एक सहयोगी सहजीवी अस्तित्व बना लेते हैं। ऑक्सीजन रहित राह पर चलकर वे भोजन को लेक्टिक अम्ल या ज़्यादा से ज़्यादा अल्कोहल में बदल लेते हैं; और फिर बंधक माइटोकोंड्रिया की मदद से इन अणुओं को आगे कार्बन डायऑक्साइड में बदलते हैं और सोलह गुना ज़्यादा ऊर्जा प्राप्त कर लेते हैं। हम इंसान ऐसे जीव हैं जिन्होंने बाहरी हवा की ऑक्सीजन का उपयोग करना कुछ इस कदर सीखा है कि इसके बिना हम मर ही जाएंगे। ग्रीक भाषा के मुताबिक ऑक्सीजन को अम्ल जनक गैस कहना इसका अपमान होगा। हम भारतीय लोग इसे प्राणवायु के आदर-सूचक नाम से पुकारते हैं। मुझे आशा है कि तिरुपति उप-कोषालय के हमारे अधिकारी मित्र अब आश्वस्त होकर ऑक्सीजन का बिल औषधि समूह के तहत पास कर देंगे।

डी. बालसुब्रमण्यन: प्रसिद्ध आण्विक जैव-भौतिक शास्त्री। सी.सी.एम.बी. हैदराबाद के पूर्व डायरेक्टर। फिलहाल एल.वी. प्रसाद आई रिसर्च इंस्टीट्यूट में डायरेक्टर हैं।

स्रोत के दिसंबर 1989 अंक से साभार।

कुछ विलक्षण तरल: टूथपेस्ट, गोंद, आइस्क्रीम और खून

गौतम आई. मेनन
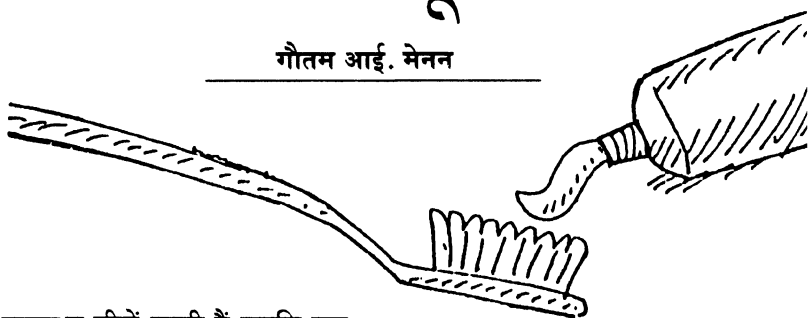
कुछ चीज़ें बहती हैं जबकि कुछ नहीं बहती। एक पत्थर नहीं बहता, पर पानी बहता है। कुछ दूसरी चीज़ें बहती हैं लेकिन धीमी गति से। वैसे तो एक हिमनद यानी ग्लेशियर इतना सख्त होता है कि आप उस पर चल सकते हैं परन्तु फिर भी वह अपनी एक धीमी रफ्तार से बहता है – एक साल में चंद सेंटीमीटर। इसी तरह शीशी में से शहद बहता है परन्तु पानी जितनी तेज़ी से नहीं, क्योंकि वह काफी गाढ़ा होता है। तारकोल तो, ठोस बन जाने से पहले, और भी धीमी गति से बहता है।

अब ज़रा टूथपेस्ट के बारे में सोचिए। जिस ट्यूब में उसे रखा गया है उसे दबाने पर टूथपेस्ट बहना चाहिए। इतना ही नहीं, आसानी से बहना चाहिए। लेकिन यह कोई अनोखी बात नहीं है, क्योंकि अगर ट्यूब में टूथपेस्ट की जगह पानी भरकर दबाएंगे तब भी ऐसा ही होगा। परन्तु पेस्ट में एक खासियत यह है कि एक बार टूथब्रश पर आ जाने के बाद वह बहना बंद कर देता है (पानी के साथ ऐसा कभी
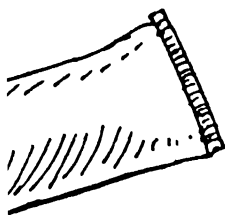
नहीं होगा)। इसलिए टूथपेस्ट अपने आसपास पाया जाना वाला एक अनोखे तरल का उदाहरण है जो कभी बहता है और कभी नहीं बहता। अब हमें यह पता लगाना है कि तरल पदार्थ किन परिस्थितियों में ऐसा अनोखा व्यवहार करते हैं।

टूथपेस्ट ऐसा कैसे करता है? जब आप टूथपेस्ट के एक छोर को दबाते हैं तो ट्यूब के दोनों छोरों पर दबाव में अंतर निर्मित हो जाता है। जिसकी वजह से टूथपेस्ट एक बल महसूस करता है और कम दबाव वाले सिरे की ओर बहने लगता है। और जब यह ट्यूब में से बहता है, टूथपेस्ट के अणु जो ट्यूब के करीब होते हैं लगभग स्थिर बने रहते हैं, जबकि जो ट्यूब के केन्द्र की ओर होते हैं वे तीव्रतम गति करते हैं। यानी कि जैसे-जैसे आप ट्यूब के केन्द्र से दीवारों की तरफ जाएं, जिस गति से टूथपेस्ट आगे बढ़ रहा है वह लगातार बदलती जाती है, कम होती जाती है। सब तरल पदार्थ इसी तरह का व्यवहार करते हैं।

अब तरल पदार्थ को यह पसंद नहीं है कि अलग-अलग हिस्से अलग-अलग रफ्तार से गति करें, तरल पदार्थ इस तरह की सापेक्ष गति का प्रतिरोध करते हैं और इस प्रतिरोध की एक नाप उसकी विस्कोसिटी या श्यानता है। जब हम कहते हैं कि शहद पानी से ज़्यादा श्यान है, तो हमारा आशय होता है कि अगर शहद व पानी से भरी ट्यूब पर एक जितना दबाव डालें तो शहद धीमी गति से बहेगा।

टूथपेस्ट व अन्य कुछ अनोखे तरल पदार्थों में एक विशेष गुण होता है कि जब उनके विभिन्न हिस्सों की गति में अंतर ज़्यादा हो – इस उदाहरण में ट्यूब की दीवारों के पास और ट्यूब के केन्द्र में बह रहे टूथपेस्ट की गति में – तो ऐसी स्थिति में ये तरल ज़्यादा आसानी से बहने लगते हैं। ऐसी स्थिति में टूथपेस्ट ऐसा व्यवहार करता है मानों कि उसकी श्यानता कम हो। जब इन गतियों में अंतर कम हो तो

टूथपेस्ट जैसे तरल पदार्थ बहुत ही धीमे बहते हैं या फिर पोचे ठोस (सॉफ्ट सॉलिड) जैसा बर्ताव भी दर्शा सकते हैं।

आइए मोटे-मोटे तौर पर इसका कारण समझने की कोशिश करते हैं। टूथपेस्ट में लंबे-लंबे अणु पाए जाते हैं जिन्हें पॉलिमर्स या बहुलक कहते हैं। जब इस तरह के पॉलिमर्स बहते हैं तो वे या तो बहुत ही अस्त-व्यस्त गुंथे हुए तंतुओं के रूप में आगे बढ़ सकते हैं, या फिर बहाव की दिशा में जमे हुए अणुओं के रूप में। जब भी अणु इस तरह से व्यवस्थित जमे होंगे, अस्त-व्यस्त स्थिति की तुलना में वे आसानी से आगे बढ़ पाएंगे, तरल आसानी से बह पाएगा। जब बहाव धीमा हो तो अणु हर किसी दिशा में पाए जाते हैं; परन्तु जब गति ज़्यादा हो तो उनकी कुंडलियां खुल जाती हैं व वे बहाव की दिशा में व्यवस्थित हो जाते हैं। इससे तरल आसानी से बह पाता है क्योंकि अणुओं का आपसी प्रतिरोध कम हो जाता है।

टूथपेस्ट में ऐसे कण भी होते हैं जो दांतों को घिसकर उन्हें साफ रखें। उसमें ऐसे कई विशेष रसायन होते हैं जो दांतों का सड़ना या उन पर टार्टर का जमना व मसूड़ों का संक्रमण आदि रोकें। ऐसे रसायन भी होते हैं जो मुंह को सूखने से रोकते हैं और मुंह में अच्छा-सा स्वाद बनाए रखते हैं। परन्तु ये सब पदार्थ एक साथ कैसे रह पाते हैं? इन्हें एक साथ बांधकर रखने के लिए इनमें कुछ अन्य उपयोगी रसायन मिलाए जाते हैं जिन्हें बाइंडर्स यानी बंधनकर्ता कहते हैं। इन्हीं की वजह से टूथपेस्ट को वैसा आकार व स्वरूप मिलता है और साथ ही वे टूथपेस्ट में मौजूद तरल और विभिन्न पदार्थों को अलग होने से रोकते हैं, जैसे कि तेल और पानी।

पिछले कुछ वर्षों में कुछ कंपनियों ने ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए बहुरंगी टूथपेस्ट तैयार किए हैं। आप ही सोचिए कि ये सब रंग ट्यूब के अंदर आपस में मिल नहीं जाएं इसके लिए कितनी नवाचारी तकनीकें अपनानी पड़ती होंगी, ताकि वे टूथब्रश पर सुंदर दिखाई दें। ऐसा लग सकता है कि आखिर टूथपेस्ट में रखा ही क्या है, बस सही किस्म के रसायनों को आपस में मिला देना भर है – परन्तु अब तक आपको भी समझ में आ गया होगा कि मामला इतना सरल भी नहीं है!

है कोई गोंद का सानी?

चलिए अब एक और अनोखे तरल यानी गोंद की बात करते हैं। गोंद से हम लिफाफे आदि चिपकाते हैं। बोतलों और ट्यूब में आने वाली गोंद तरल होती है जबकि ग्लू-स्टिक ठोस होती है। इन सब से आमतौर पर कागज़ को कागज़ से चिपकाने का काम लिया
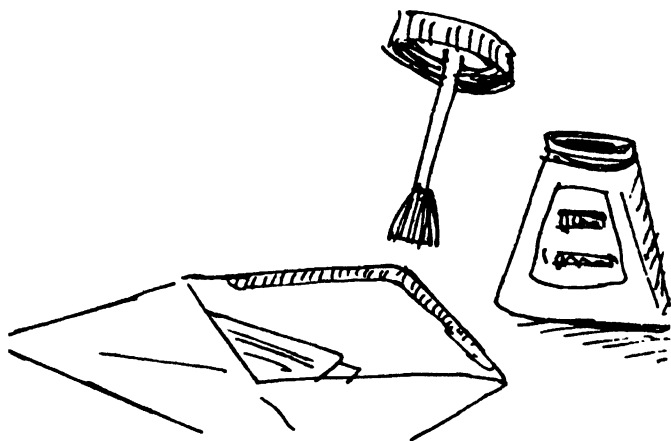
जाता है। वैसे इनसे और कई चीज़ें भी चिपकाई जा सकती हैं।

सभी प्रकार की गोंद विभिन्न प्रकार की चीज़ों को चिपकाने में एक जैसी प्रभावकारी नहीं होती हैं। उदाहरण के तौर पर एक गोंद जो कागज़ के कई टुकड़ों को चिपकाने में काफी कारगर होती है, वही गोंद दो साफ-सुथरे धातु के टुकड़ों को चिपका पाने में अक्सर नाकामयाब रहती है। इससे पता चलता है कि 'चिपकाना' उन अणु व परमाणुओं का गुण है जिससे चिपकने वाली सतह बनी हुई है।

अभी तक मिली सबसे पुरानी, लगभग आठ हज़ार साल पुरानी गोंद कोलाजन मज्जा से बनी हुई थी। यह मज्जा एक बहुलक यानी पॉलिमर होता है जो खाल और उपास्थियों (कार्टिलेज) में पाया जाता है। यह पुरानी गोंद जानवरों की खाल से बनाई जाती थी। इस गोंद का उपयोग रस्सी की बनी टोकरियों, अन्य बर्तनों व कढ़ाई किए गए कपड़ों पर जलरोधी परत चढ़ाने के लिए किया जाता था। इसके अलावा बर्तनों की जुड़ाई में भी गोंद उपयोगी थी। काफी समय बाद तक, पिछली सदी के दौरान भी विभिन्न चीज़ों को चिपकाने के लिए प्रोटीन आधारित गोंद इस्तेमाल की जाती थी जिसे दूध, जानवरों की हड्डियों और खून से बनाया जाता था। लेकिन इन दिनों रसायन विज्ञान की करामातों के ज़रिए सस्ती और असरदार गोंद काफी कम दाम में तैयार हो जाती है।

अपने आसपास घर के अंदर नज़र दौड़ाएं तो ताज़ा पका हुआ चावल

भी गोंद का एक अच्छा उदाहरण है जिससे हममें से बहुत से लोग लिफाफे चिपकाते हैं। ऐसे स्टार्च से बने हुए गोंद का इस्तेमाल हज़ारों सालों से हो रहा है। वैसे स्टार्च में खुद चिपकाने का कोई गुण नहीं होता। उसे पानी में उबालना पड़ता है, जिससे वह फूल जाए और पानी के अणुओं के साथ एक बंधन बना ले। ऐसा करने पर वह एक चिपकाने वाले पेस्ट की तरह कार्य करता है।

एक अच्छी गोंद जिस सतह पर लगा रहे हों, उस पर तेज़ी से व ठीक से फैल जानी चाहिए जिससे वह पूरी सतह को अच्छी तरह से गीली कर दे। अच्छी तरह से गीला करने से मज़बूत बंध बनते हैं। जबकि अगर सतह ठीक से गीली नहीं हुई हो तो हवा व नमी से भरी हुई खाली जगह छूट जाती है, जो बंधन को कमज़ोर बना सकती है।

यहां इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि चिपकाने के लिए सतह को अच्छी तरह से गीला कर देना भर पर्याप्त नहीं है। अगर ऐसा होता तो पानी भी गोंद की तरह काम करता। चिपकाने की प्रक्रिया में दो सतहों पर फैलाई गई तरल गोंद धीरे-धीरे एक ठोस परत के रूप में तब्दील होती जाती है और दोनों सतहें एक-दूसरे से स्थाई रूप से चिपक जाती हैं। एक मोटा अनुमान यह भी है कि यह बंधन इसलिए भी हो पाता है क्योंकि गोंद संपर्क में आने वाली सतह के कुछ सौ ऊपरी अणुओं के साथ घुलमिल जाती है। इस सब से समझ में आता है कि गोंद एक विलक्षण द्रव है – जो तरल पदार्थ की तरह बह सकता है और पूरी सतह को गीला कर सकता है, परन्तु दूसरी ओर दो सतहों को एक साथ, जितना संभव हो उतनी ताकत से, चिपका सकता है। इस तरह से मानो कि वे एक ठोस के द्वारा आपस में जोड़ दी गई हों।

आइसक्रीम यानी हवा, पानी ....

अब बारी आती है तीसरे पदार्थ यानी आइसक्रीम की। आइसक्रीम बनाने के लिए ज़रूरी हैं दूध, वसा (आमतौर पर मक्खन या मलाई), गैर-वसीय दुग्ध ठोस (दूध पावडर), मीठा स्वाद लाने वाले पदार्थ और स्वाभाविक है कि पानी। इसके अलावा इसमें काफी कम मात्रा में कुछ ऐसे रसायन मिलाए जाते हैं जिन्हें स्टेबलाइज़र और इमल्सीकारक कहा जाता है। ये पदार्थ आइसक्रीम में (भार के हिसाब से) काफी कम मात्रा में होते हैं लेकिन आइसक्रीम को बनाने में महती भूमिका निभाते हैं। आगे चलकर हम इनकी भूमिका पर गौर करेंगे।

वसा पदार्थों को मिलाने से आइस-क्रीम की खुशबू और टेक्सचर बेहतर हो जाता है। गैर-वसीय दुग्ध ठोस खुशबू के साथ उसकी बनावट के

निर्धारण में भी योगदान देते हैं। यह घटक आइसक्रीम की हवा को संजोए रखने की क्षमता भी बढ़ा देता है, जो बहुत ज़रूरी है क्योंकि किसी भी अच्छी आइसक्रीम में ज़्यादातर तो हवा ही होती है।

शर्कराएं आइसक्रीम को मिठास देती हैं, साथ ही वे पानी के हिमांक को कम कर देती हैं; जिससे काफी कम तापमान होने पर भी आइसक्रीम में कुछ बिना जमा हुआ, बिना बर्फ में तब्दील हुआ पानी मौजूद रहता है। इस तरह के बिन-जमे पानी के बिना आइसक्रीम इतनी सख्त बन जाती कि उसे चम्मच से उलीच पाना या स्कूप कर पाना बहुत ही मुश्किल हो जाता।

आइसक्रीम के अंदर मौजूद इस बिन-जमे पानी को गाढ़ा बनाने के लिए स्टेबलाइज़र ज़िम्मेदार होते हैं, जिससे कि यह पानी आइसक्रीम के अंदर आसानी से इधर-उधर न हिल-डुल सके। स्टेबलाइज़र के बिना आइस-क्रीम बर्फ के गोले की तरह बन जाती क्योंकि यह बिन-जमा पानी आपस में मिलकर बर्फ के रवे यानी क्रिस्टल बना लेता, और उनमें वृद्धि होने के कारण बर्फ के दाने बन जाते। ये बर्फ के रवे जितने छोटे होंगे, जीभ को उनकी मौजूदगी का पता लगाना उतना ही मुश्किल होगा। (अगर आइसक्रीम बहुत अच्छी नहीं हो तो बर्फ के रवों की उपस्थिति तुरंत समझ में आ जाती है, आइसक्रीम चाटने पर ये क्षण भर के लिए चुभते हैं, परन्तु फिर तुरंत पानी में तब्दील हो जाते हैं।)

रेफ्रीजरेटर से निकालकर परोसने पर बची हुई आइसक्रीम थोड़ी-सी पिघल जाती है और फिर से रेफ्रीजरेटर में रखने पर, तापमान कम हो जाने पर जम जाती है। हर बार ऐसा करने पर वह थोड़ी-थोड़ी बर्फ जैसी लगने लगती है। स्टेबलाइज़र ऐसा होने से रोकते हैं।

शुरुआत में स्टेबलाइज़र के रूप में जिलेटिन इस्तेमाल किया जाता था जिसे प्राणियों की हड्डियों से बनाया जाता था। परन्तु आजकल पौधों से मिलने वाले रसायनों का स्टेबलाइज़र के रूप में अधिकतर प्रयोग होता है।

इमल्सिकारक वसा और तैलीय पदार्थों को आइसक्रीम में ठीक से मिला देते हैं। वे यह भी सुनिश्चित करते हैं कि आइसक्रीम में पर्याप्त मात्रा में हवा उपलब्ध रहे। दरअसल इमल्सिफायर इस तरह के अणु होते हैं जो अपना एक सिरा तैलीय पदार्थों में और दूसरा सिरा पानी में रखना पसंद करते हैं। इसलिए जहां भी तैलीय पदार्थों या वसा व पानी को अलग करने वाली सतह मौजूद हो इमल्सिफायर के अणु वहां रहना चाहते हैं।

आमतौर पर तेल (या वसा) और पानी आपस में नहीं घुलते-मिलते। तो फिर आइसक्रीम के अलग-अलग हिस्सों से दूध की वसा को एक साथ आ जाने से कौन रोकता है? वही इमल्सिफायर! चूंकि ये अणु वसा और पानी के बीच उपस्थित रहना चाहते हैं इसलिए वे चाहते हैं कि तेल को ज़्यादा-से-ज़्यादा सतह यानी क्षेत्रफल मिले, यानी कि छोटी-छोटी बूंदों के रूप में। इससे इमल्सिफायर का महत्व समझ में आता है। शुरुआत में आइसक्रीम में इमल्सिफायर के रूप में अंडे की ज़र्दी का इस्तेमाल किया जाता था, परन्तु अब उसके बजाए अन्य रसायनों का उपयोग किया जाता है।

आइसक्रीम में खूब सारी हवा होती है – लगभग उसका आधा आयतन। इसी वजह से आइसक्रीम इतनी हल्की होती है। हवा के बिना आइसक्रीम जमे हुए बर्फ के टुकड़े जैसी होगी। दरअसल आइसक्रीम जमी हुई झाग है (जैसे कि दाढ़ी बनाने वाली झाग जिसमें खूब सारी हवा होती है) जिसमें बर्फ के अत्यंत छोटे क्रिस्टल/रवे और हवा के बुलबुले ज़्यादातर जगह घेरे रहते हैं।

आइसक्रीम को कभी-कभी इमल्शन या तैलोद भी कहते हैं क्योंकि इसमें वसा के छोटे-छोटे कण पानी में मौजूद रहते हैं। वसा के ये कण हवा के बुलबुलों को घेरे रहते हैं। शेष आइसक्रीम में प्रमुखतः बिना जमा हुआ शर्करा का गाढ़ा घोल होता है।

हमारा खून

अब जो हमारी रुचि का आखिरी तरल पदार्थ है, वह है प्राकृतिक खून। हमारे शरीर के अंदर लगभग चार लीटर खून हर समय बहता है। यह खून शिराओं-धमनियों से होकर बहते हुए कोशिकाओं को ज़रूरी तत्वों की पूर्ति करता है और नुकसानदायक पदार्थों को वहां से हटाता है। खून के बिना तो शरीर का काम ही ठप्प पड़ जाए।

चोट लगने पर खून बहने लगता है और चोट वाली जगह पर खून के थक्के जमने लगते हैं ताकि ज़्यादा खून न बह सके। ऐसा माना जाता है कि खून में मौजूद प्लाज़मा प्रोटीन फिब्रिनोजेन – फिब्रिन में तब्दील हो जाता है। खून के विभिन्न घटक फिब्रिन के नेटवर्क (जाल) में उलझ जाते हैं। यहां इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप के ज़रिए थक्के को दिखाया जा रहा है।

हमारे खून का 55 प्रतिशत हिस्सा तो प्लाज़मा होता है – पीले रंग का एक तरल पदार्थ। प्लाज़मा अपने साथ ठोस कोशिकाओं और प्लेटलेट्स को लिए होता है जो खून के थक्के को बनाने में मदद करते हैं। आमतौर पर प्लाज़मा कई किस्म के कामों को अंजाम देता है जैसे – रक्त के दबाव और मात्रा को व्यवस्थित रखना, खून में थक्का जमाने और रोगों से लड़ने के लिए प्रोटीन की पर्याप्त मात्रा में सप्लाई करना आदि। यह सोडियम और पोटेशियम जैसे महत्वपूर्ण खनिज पदार्थों के आदान-प्रदान के लिए माध्यम का भी काम करता हैं, ताकि शरीर में इन खनिजों का सही संतुलन बना रहे।

लाल रक्त कोशिकाएं हमारे खून का सबसे ज़्यादा परिचित घटक है। लाल रक्त कोशिकाओं में हिमोग्लोबिन मौजूद होता है। हिमोग्लोबिन एक ऐसा अणु है जिसमें लौह उपस्थित रहता है जो पूरे शरीर को ऑक्सीजन पहुंचाता है। हिमोग्लोबिन की वजह से ही खून हमें लाल दिखता है। हमारे खून का लगभग 40 प्रतिशत हिस्सा लाल रक्त कोशिकाओं से ही बना हुआ है। खून में लाल रक्त कोशिकाओं की संख्या का एक मोटा अनुमान लगाना हो तो कुछ इस तरह कह सकते हैं कि खून की 2-3 बूंद में लगभग एक अरब लाल रक्त कोशिकाएं होती हैं। हर 600 लाल रक्त कोशिकाओं के लिए

खून में 40 प्लेटलेट्स और 1 सफेद कोशिका होती है। लाल रक्त कोशिकाएं तकरीबन 120 दिनों तक जीवित रहती हैं। अपनी आयु पूरी कर रही कोशिकाओं को रक्त के बहाव से बाहर निकाल लिया जाता है।

गौरतलब है कि खून एक ऐसा तरल है जिसमें कुछ ठोस पदार्थ तैर रहे हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जिस तरह बहती हुई नदी में मिट्टी के कण, गाद वगैरह तैरते हैं कुछ वैसे ही। लेकिन हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि खून एक जीवित तरल है, क्योंकि उसमें जीवित कोशिकाएं हैं। हवा के संपर्क में आने पर खून जम जाता है और एक ठोस जैसा व्यवहार करता है। परन्तु शरीर के अंदर यह बहने वाले तरल की तरह व्यवहार करता है। ज़रूरी है कि यह न सिर्फ चौड़ी धमनियों में से बह पाए, परन्तु उतना ही महत्वपूर्ण होता है कि खून अत्यंत महीन केश नलिकाओं में से भी बह सके। दिल खून को लगातार इन सब नलिकाओं में पंप करता रहता है और बहाव को लगातार बनाए रखता है। यह एक ऐसा तरल है जिसका आदर किए बिना नहीं रहा जाता।

हम ऐसे चार प्रकार के तरल पदार्थ देख चुके हैं जिनसे हम हररोज़ रूबरू होते हैं। उनके विलक्षण गुणों के बारे में एक बार भी सोचे बिना हम इन्हें इस्तेमाल करते रहते हैं – लिफाफे चिपकाते वक्त, टूथब्रश पर टूथपेस्ट लगाते हुए, आइसक्रीम के कोन को चाटते हुए या फिर यह सोचते हुए कि ज़ख्म से बहता हुआ खून कब थमेगा?

इसी तरह अन्य तरल पदार्थों के गुणों के बारे में सोचना भी इतना ही रुचिकर हो सकता है कि किस तरह ये अपने-आप में अनोखे हैं जैसे – नारियल का तेल, गन्ने का रस, छाछ, इंजन ऑइल, टार, सांभार आदि। क्या आप ऐसे और पदार्थों के बारे में सोच सकते हैं?

गौतम आई. मेनन: इंस्टीट्यूट ऑफ मेथेमेटिकल साइंसेज़, चैन्नई।
यह लेख जंतर-मंतर पत्रिका के नवंबर-दिसंबर 2002 अंक से साभार।

ज़रा सिर तो खुजलाइए

इस बार का सवाल कुछ इस तरह से है:

सवाल 1: नीचे एक घड़ी का डायल दिया गया है। इसमें 1 से 12 तक के अंक बने हैं। आपको इस बार करना यह है कि इस डायल को चार हिस्सों में काटना है। बस एक ही शर्त है कि हर हिस्से में आए अंकों का योग 20 होना चाहिए। वैसे आपकी जानकारी के लिए यह बता दें कि डायल को एक से ज़्यादा तरीकों से काट सकते हैं। इसलिए आप अपने जवाब में एक से ज़्यादा तरीकों का समावेश कर सकते हैं।
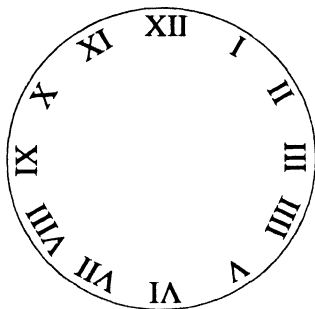
सवालीराम

सवालीराम से इस बार पूछे गए सवाल इस प्रकार हैं:

सवाल 1: पारस पत्थर क्या है? क्या यह सचमुच लोहे को सोना बना देता है?

पारुल श्रीवास्तव, ग्वालियर

सवाल2: रात के समय आसमान में दिखने वाले तारे अलग-अलग रंगों के दिखते हैं। तारों के रंगों में फर्क क्यों होता है?

सुनील पचोरी, इंदौर

'ज़रा सिर खुजलाइए' और 'सवालीराम' स्तंभ में पूछे गए सवालों के जवाब आप **30 अक्टूबर** तक हमारे पास भेज सकते हैं।

ज़रा सिर खुजलाइए

पिछली दफा आपसे कुछ सवाल पूछे थे। इन सवालों के लिए पाठकों ने काफी संख्या में जवाब भी भेजे हैं। पिछली बार के सवाल इस तरह से थे।

1. जॉनी ने एक साधारण पांसे से चाल चली। इसके बाद मोनी ने भी उसी पांसे से चाल चली। इस बात की कितनी संभावना है कि जॉनी की चाल में आया अंक, मोनी की चाल में आए अंक से ज़्यादा होगा?

2. एक समतल मैदान में 10 फीट और 15 फीट लंबाई के खंबे एक-दूसरे से कुछ दूरी पर गड़े हुए हैं। दोनों खंबों के शीर्ष और आधार को सरल रेखाओं से मिलाया जाए तो इन दोनों रेखाओं का कटान बिन्दु ज़मीन से 6 फीट की ऊंचाई से गुज़रता है। इन सब जानकारियों के आधार पर क्या आप बता सकते हैं कि दोनों खंबों के बीच की दूरी कितनी है?

3. एक त्रिभुज की भुजाएं 13, 18 और 31 इंच हैं। तो त्रिभुज का क्षेत्रफल कितना होगा?

4. 50 को 1/2 से विभाजित कीजिए और उसमें 3 जोड़िए। अब बताएं कि जवाब क्या आया?

5. साल में ऐसे कितने महीने होते हैं जिनमें 30 दिन तो होंगे ही?

6. एक कतार में 6 गिलास हैं। तीन खाली और तीन भरे हुए। हम चाहते हैं कि गिलासों में एक क्रम स्थापित हो जाए – भरा, खाली, भरा, खाली। बस शर्त यही है कि सिर्फ एक गिलास को हाथ लगाकर ही यह क्रम बनाना है। यानी किसी एक गिलास को छूना है, उसके बाद आप दूसरे किसी गिलास को हाथ नहीं लगा सकते।

7. नीचे दी संख्याओं की कतारों को देखिए। इन संख्याओं में से किन्हीं 6 संख्याओं को चुनकर उन पर गोला लगाइए। बस इस बात का ध्यान रखना है कि इन 6 संख्याओं का योग 21 होना चाहिए।

9	9	9
5	5	5
3	3	3

जवाब 1. इसका जवाब ढूंढने के लिए सबसे पहले जॉनी और मोनी द्वारा पांसे फेंकने पर कौन-सी और कितनी संभावनाएं हैं यह लिख लेते हैं।

(1,1), (1,2), (1,3), (1,4), (1,5), (1,6)

(2,1), (2,2), (3,3), (4,4), (2,5), (2,6)

(3,1), (3,2), (3,3), (3,4), (3,5), (3,6)

(4,1), (4,2), (4,3), (4,4), (4,5), (4,6)

(5,1), (5,2), (5,3), (5,4), (5,5), (5,6)

(6,1), (6,2), (6,3), (6,4), (6,5), (6,6)

ऊपर कोष्टक में दिए अंकों में पहला बोल्ड अंक जॉनी का है और दूसरा अंक मोनी का है। यानी कि कुल मिलाकर 36 तरह से पासे फेंके जा सकते हैं। इनमें से 15 ऐसे मौके हैं जहां जॉनी का अंक मोनी के अंक से ज़्यादा हो सकता है। उन 15 संभावनाओं को रेखांकित किया गया है।

यानी कि जॉनी का अंक मोनी के अंक से बड़ा हो इसकी संभावना 15/36 या 5/12 होगी।

जवाब 2. दोनों खंबों के बीच की दूरी कुछ भी हो सकती है। खंबों के बीच दूरी जो भी हो, कटान बिन्दु 6 फीट की ऊंचाई से ही गुज़रेगा।

जवाब 3. दी गई भुजाओं से त्रिभुज नहीं बन सकता है। सूत्र से गणना करने पर जवाब शून्य आएगा।

जवाब 4. 103 होगा।

जवाब 5. फरवरी को छोड़कर साल में 11 महीने ऐसे होंगे जिनमें तीस दिन तो होंगे ही।

जवाब 6. गिलास नंबर दो को उठाकर उसका पानी गिलास नंबर पांच में उड़ेल दीजिए और गिलास नंबर दो को अपने पूर्व स्थान पर वापस रख दीजिए।

जवाब 7. वैसे सच बात तो यह है कि सीधे-सीधे छह संख्याओं का जोड़ 21 नहीं आ सकता है। कुछ पाठकों ने साफ-साफ लिखा कि जोड़ 21

नहीं आता। वो पाठक भी अपनी जगह सही हैं। इस सवाल को प्रसिद्ध पहेलीविद् मार्टिन गार्डनर ने अपनी किताब में शामिल किया था और उसका जवाब तिकड़म भिड़ाकर ही दिया था। वैसे हमारे कुछ पाठकों ने भी विभिन्न किस्म के तिकड़म लगाकर जोड़ 21 बनाया है। इन तिकड़मी जवाबों को भी हम सही जवाबों की श्रेणी में रख रहे हैं।

पहले देखिए मार्टिन गार्डनर का जवाब:

⑨	⑨	⑨	①	①	①
5	5	5	ε	ε	ε
3	3	3	ς	ς	ς
①	①	①	⑥	⑥	⑥

पहले कागज़ पर लिखी संख्याओं में से छह संख्याओं पर गोला लगाया। लेकिन इनका जोड़ तो 30 हो रहा है। अब कागज़ को 180 डिग्री घुमा दिया। अब योग 21 ही हो रहा है।

ऐसा ही एक और जवाब है: आप सभी 3 पर गोला लगाइए; फिर 1 पर और 11 पर। इनका जोड़ 3+3+3+1+11= 21 ही बनेगा।

आपकी उपहार पुस्तकें!

जैसा कि पिछली बार कहा था कि सही जवाब भेजने वाले पाठकों को पुस्तकें बतौर उपहार दी जाएंगी। सातों सवालों के सही जवाब देने वाले पाठकों को 'बच्चे असफल कैसे होते हैं' और छह सवालों के सही जवाब देने वाले पाठकों को 'समझ के लिए तैयारी' किताब बतौर उपहार भेजी जा रही है। जिन पाठकों को यह उपहार भेजा जा रहा है उनके नाम इस प्रकार से हैं:

रमेश जांगिड, भिरानी; अनूप अग्रवाल, बरगढ़; अनुराग जायसवाल, नीमच; दर्शन लाल अरोरा, यमुना नगर; अपर्णा शर्मा, भीलवाड़ा; हनुमान सहाय शर्मा, भीलवाड़ा; अनुराधा कल्याणी, इंदौर; कमलेश चंद्र उप्रेती, पिथौरागढ़; विनोद उप्रेती, पिथौरागढ़; राजा शब्बीर हुसैन, शुजालपुर; लोकेश रणदिवे, इंदौर; नरेन्द्र सिंह, महेंद्रगढ़, हरियाणा; विकास जैन, हरदा; अनिल सोनवणे, बुरहानपुर; अलका कालरा, नई दिल्ली;

हार्मोन्स

जे. बी. एस. हाल्डेन
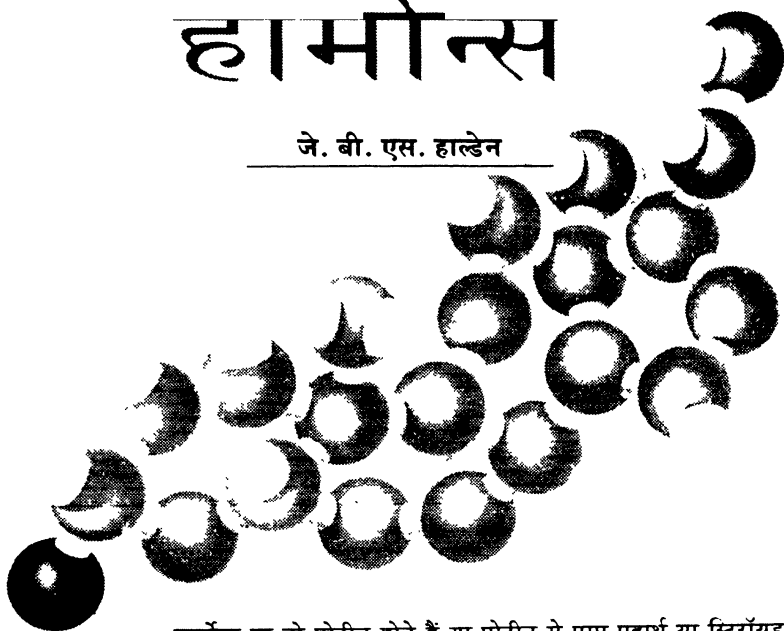
हार्मोन्स या तो प्रोटीन होते हैं या प्रोटीन से प्राप्त पदार्थ या स्टिरॉयड। यहां एक स्टिरॉयड के अणु का मॉडल दिखाया गया है जो ऑक्सीजन, हाइड्रोजन और कार्बन के परमाणुओं से मिलकर बना हुआ है।

मेरा ख्याल है कि हार्मोन्स व उन्हें बनाने वाली ग्रन्थियों के बारे में जितनी बकवास लिखी जाती है, उतनी शरीर क्रिया विज्ञान की किसी अन्य चीज़ के बारे में नहीं। हार्मोन उस पदार्थ को कहते हैं जो शरीर के एक अंग द्वारा बनाया जाता है और किसी दूसरे अंग या अंगों के क्रिया-कलाप का नियमन करता है। एड्रिनेलीन जैसे कुछ हार्मोन काफी सरल पदार्थ होते हैं और इन्हें प्रयोगशाला में आसानी से बनाया जा सकता है। कुछ हार्मोन काफी जटिल होते हैं, इन्हें हमने शुद्ध रूप में प्राप्त तो कर लिया है मगर हम इनकी संरचना के बारे में ज़्यादा नहीं जानते, इन्हें बनाने की बात तो दूर है।

शरीर में हार्मोन्स कितने

संपूर्ण स्वास्थ्य के लिए सारे हार्मोन्स ज़रूरी होते हैं मगर, जहां तक हम जानते हैं, ऐसे हार्मोन्स दो-तीन ही हैं जो जीवन के लिए अनिवार्य हैं। मसलन पाचन के लिए रसायनों का निर्माण करने के अलावा हमारे अग्न्याशय या पेंक्रियाज़ इन्सुलिन नाम का एक प्रोटीन भी बनाते हैं। इन्सुलिन न हो तो हमारा शरीर शक्कर का उपयोग नहीं कर सकता। इन्सुलिन की अनुपस्थिति में हमारे गुर्दे खून में मौजूद अनचाही शक्करों को पेशाब के साथ बाहर निकाल देते हैं और हम मधुमेह के शिकार हो जाते हैं। दूसरी ओर, यदि इन्सुलिन बहुत ज़्यादा हो तो और अधिक घातक होता है। यदि किसी व्यक्ति के शरीर में इन्सुलिन की ज़्यादा मात्रा का इंजेक्शन दे दिया जाए, तो उसका जिगर (लीवर) खून में से सारी शक्कर सोख लेता है, दिमाग को शक्कर नहीं मिल पाती। व्यक्ति को पहले तो तेज़ भूख लगती है और जल्दी ही उसकी मृत्यु हो जाती है। यह सही है कि शरीर की प्रत्येक कोशिका को इन्सुलिन की ज़रूरत होती है मगर साथ ही यह भी ज़रूरी है कि इसकी एकदम सही मात्रा शरीर में रहे। इसलिए इसे प्रत्येक कोशिका में बनाने की बजाए एक ही अंग में, तंत्रिका तंत्र के नियंत्रण में बनाना ज़्यादा कारगर है।

इसी प्रकार से एक और अनिवार्य हार्मोन गर्दन में उपस्थित पैराथायरॉइड ग्रन्थि द्वारा बनाया जाता है, यह खून में कैल्शियम की मात्रा का नियंत्रण करता है। यदि यह हार्मोन बहुत कम हो, तो खून में कैल्शियम की मात्रा बहुत कम हो जाती है और मांसपेशियों में विचित्र ऐंठन होती है। संभवतः हड्डियां खून में से कैल्शियम सोखती हैं। यदि यह हार्मोन बहुत अधिक हो तो हड्डियां घुलने लगती हैं और खून में कैल्शियम की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। दोनों ही स्थितियां जानलेवा हो सकती हैं।

एड्रिनल ग्रन्थि गुर्दों के पास स्थित होती हैं। इस ग्रन्थि का बाहरी भाग कई सारे हार्मोन बनाता है। इनमें से एक हार्मोन हमारे शरीर में लवणों की मात्रा को नियंत्रित करता है। यदि किसी व्यक्ति के शरीर में यह हार्मोन नहीं बन रहा है, तो उसे प्रतिदिन थोड़ा अतिरिक्त नमक खिलाकर ज़िन्दा रखा जा सकता है, अन्यथा उसकी मृत्यु निश्चित है।

गर्दन में ही स्थित एक अन्य ग्रन्थि थायरॉइड एक हार्मोन थायरॉक्सीन का निर्माण करती है। यह हार्मोन शरीर में ऑक्सीकरण की क्रिया को बढ़ावा देता है। अन्यथा ऑक्सीकरण एकदम न्यूनतम स्तर पर रहता है। यह हार्मोन न हो, तो व्यक्ति मोटा और सुस्त हो जाता है और बुद्धू रह जाता है। यदि
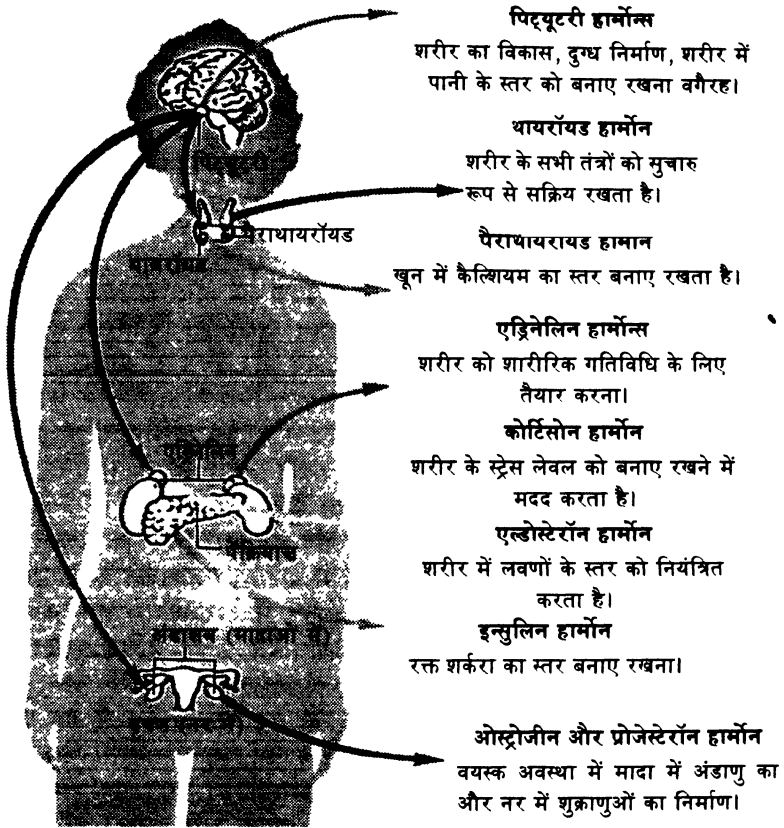
किसी अन्य अंग के मुकाबले पियूष (पिट्यूटरी) ग्रन्थि में ज़्यादा हार्मोन्स बनते हैं। यह ग्रन्थि मस्तिष्क के नीचे स्थित होती है। यह ग्रंथि खुद तो कुछ हार्मोन्स का निर्माण करती ही है लेकिन शरीर में मौजूद कई दूसरी हार्मोन्स बनाने वाली ग्रंथियों की गतिविधियों पर भी नियंत्रण रखती है। इसके द्वारा निर्मित हार्मोन्स वृद्धि, शक्कर के उपयोग, दूध के निर्माण के अलावा थायरॉइड, एड्रिनल, अण्डाशय और वृषण की गतिविधियों को भी नियंत्रित करते हैं। ऊपर बने चित्र में बने तीरों की मदद से यही बताने की कोशिश की गई है कि पियूष ग्रंथि किन-किन अंतस्रावी ग्रंथियों पर नियंत्रण रखती है।

यह हार्मोन बहुत ज़्यादा हो, तो व्यक्ति दुबला-पतला, अति सक्रिय हो जाता है। उसकी नाड़ी बहुत तेज़ हो जाती है, कई अन्य लक्षण उभरने लगते हैं और अन्ततः मृत्यु हो जाती है। एक सरल प्रयोग से देखा जा सकता है कि इस ग्रन्थि की क्रिया पर कितना सटीक नियंत्रण रखा जाता है। कभी-कभी कैंसर या किसी अन्य कारण से यह ग्रन्थि निकाल देनी पड़ती है। हम जानते हैं कि ऐसे व्यक्ति को स्वस्थ रखने के लिए कितनी मात्रा में थायरॉक्सीन हार्मोन देना होता है। इतनी मात्रा या इससे कम कोई भी मात्रा किसी स्वस्थ व्यक्ति को दी जाए तो उस पर कोई असर नहीं होता। इतना ही होता है कि उसकी थायरॉइड ग्रन्थि थायरॉक्सीन बनाना बंद कर देती है और खून में थायरॉक्सीन की मात्रा अपरिवर्तित रहती है। मगर यदि उसे ज़रूरी दैनिक मात्रा से ज़्यादा हार्मोन दिया जाए तो उसकी ऑक्सीजन खपत बढ़ जाती है और एक पखवाड़ा बीतते-बीतते वह काफी बीमार हो जाता है।

पुरुष में वृषण और स्त्री में अण्डाशय ऐसे हार्मोन्स बनाते हैं जिनकी वजह से किशोरावस्था में शरीर में कई परिवर्तन होते हैं, जैसे दाढ़ी या स्तनों का विकास। एक अन्य स्त्री हार्मोन प्रोजेस्टरोन पूरी गर्भावस्था में बनता रहता है और प्रत्येक मासिक चक्र के दौरान भी कुछ बनता है।

हार्मोन्स की कितनी मात्रा ज़रूरी

किसी अन्य अंग से ज़्यादा हार्मोन पियूष (पिट्यूटरी) ग्रन्थि में बनते हैं। यह ग्रन्थि मस्तिष्क के नीचे स्थित होती है। इसके द्वारा निर्मित हार्मोन वृद्धि, शक्कर के उपयोग, दूध के निर्माण के अलावा थायरॉइड, एड्रिनल, अण्डाशय और वृषण की गतिविधियों को भी नियंत्रित करते हैं। किशोरावस्था में अण्डाशय और वृषण का आकार पियूष ग्रन्थि द्वारा निर्मित हार्मोन्स के कारण ही बढ़ता है। इस हार्मोन के उत्पादन पर शरीर बहुत सख्ती से नियंत्रण करता है।

यदि हम शरीर को एक मशीन के रूप में देखें तो कह सकते हैं कि पुरुष के शरीर में टेस्टोस्टेरोन हार्मोन का इंजेक्शन देने से वह अधिक पुंसत्व से पूर्ण हो जाएगा। वैसे किसी वंध्याकृत पशु को यह हार्मोन देने से वह एक सामान्य नर पशु की भांति व्यवहार करने लगता है। मगर एक सामान्य नर में इसका असर उल्टा होता है। पियूष ग्रन्थि द्वारा जननांग उद्दीपक हार्मोन (गोनेड स्टिम्यूलेटिंग हार्मोन) के उत्पादन को इस तरह नियंत्रित किया जाता है कि शरीर में उसकी मात्रा स्थिर बनी रहे। यदि कृत्रिम रूप से यह हार्मोन शरीर में पहुंचाया जाए तो पियूष ग्रन्थि काम करना बंद कर देती है – नर अधिक पुंसत्व पूर्ण होने की बजाए अधिक नपुंसक हो जाता है।

इसी प्रकार से पियूष ग्रन्थि का एक अन्य हार्मोन वृद्धि से संबंधित है और यह इंसुलिन के विरोधी की तरह काम करता है। एक अन्य हार्मोन थायरॉइड ग्रन्थि का नियंत्रण करता है और खून में थायरॉक्सीन की मात्रा बढ़ने पर इसका उत्पादन रुक जाता है। जितना हम खुद के बारे में समझते जा रहे हैं, उससे पता चलता है कि हमारी किसी भी संरचना या कार्य की स्थिरता दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं के संतुलन पर निर्भर होती है। आज हम हार्मोन के बारे में काफी कुछ जानते हैं मगर यदि हम इनका उपयोग मशीनी ढंग से करें तो हम व्यक्ति को और अस्वस्थ ही कर देंगे।

कुछ हार्मोन्स की क्रिया बहुत त्वरित होती है और इनका उत्पादन जल्दी-जल्दी बंद चालू होता है। ऐसा एक हार्मोन एड्रिनेलीज़ है – यह एड्रीनल ग्रन्थि के मध्य भाग में बनता है, खासकर भावनात्मक परिस्थितियों में और कसरत के दौरान। यह हृदय को स्फूर्ति प्रदान करता है और खून को मांसपेशियों में भेजता है जहां उसकी ज़रूरत होती है। ऐसा एक अन्य हार्मोन आपको उनींदा बनाता है, इसका संबंध शायद सामान्य नींद से है। मगर ज़्यादातर हार्मोन्स का असर होने में कई घन्टे या दिन लगते हैं।

संक्षेप में, हार्मोन्स विभिन्न अंगों की गतिविधियों के बीच कड़ियां जोड़ने वाले प्रमुख एजेन्ट हैं। इनकी बदौलत हमारा शरीर एक समग्र इकाई के रूप में काम करता है। मगर अपने शरीर को मशीन मानकर इनका उपयोग ग्रीज़ की तरह करेंगे तो ये आपको तंदरुस्त बनाने की बजाए बीमार बना सकते हैं।

जे. बी. एस. हाल्डेन: (1892-1964) प्रसिद्ध अनुवांशिकी विज्ञानी एवं विख्यात विज्ञान लेखक। प्रस्तुत निबंध 1949 में प्रकाशित 'वॉट इज़ लाइफ' नामक संकलन से लिया गया है।
अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य की स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं।

स्रोत
विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी फीचर्स
स्रोत
विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी फीचर्स

पाठ्यपुस्तकों को समझना

गणित की पाठ्यपुस्तकों में अक्सर विद्यार्थियों को गणितीय अवधारणाओं के अलावा तरह-तरह की भाषाई समस्याओं से भी जूझना पड़ता है। इन तमाम समस्याओं के बीच हम पाठ्यपुस्तकों को तुरंत न भी बदल पाएं, लेकिन भाषा संबंधी समस्याओं के लिए कुछ तो कर ही सकते हैं। देखिए कुछ ऐसे प्रारंभिक तरीके जिन्हें आप खुद अपना सकते हैं और बच्चों से भी करवा सकते हैं।

गणित की किताबों में इस्तेमाल की जाने वाली भाषा को कई बार भाषाई स्तर पर समझना तो कठिन है ही, साथ ही गणितीय शब्दावली के स्तर पर भी इसे समझाने में शिक्षक को मदद की ज़रूरत महसूस होती है। गणित की पाठ्यपुस्तकों में सामान्यत: तीन प्रकार की शब्दावली पाई जाती है:

- तकनीकी और विषय से संबंधित जैसे – कोज्या, परवलय, प्राकृत अंक, वर्गमूल।
- अर्ध-तकनीकी जैसे उन्नयन (Elevation), अवनमन (Depression), रचना, गणना।
- आम शब्द जिनका गणित से कोई विशेष संबंध न हो जैसे रेलवे समय-सारणी, मुद्रा, ब्याज, कर्ज़ आदि।

नीचे की गतिविधियां, गणित में उपयोग की जाने वाली भिन्न शब्दावलियों से, छात्रों को अवगत कराएंगी।

गतिविधि: गणित के शब्दों का एक शब्दकोश बनाएं

इस शब्दकोश को या तो अलग-अलग कार्डों पर अथवा कॉपी में बनाएं। हरेक शब्द के लिए एक अलग कार्ड प्रयोग करें और कार्डों को वर्णमाला के क्रम में लगाएं। अगर आप कॉपी का प्रयोग कर रहे हों तो

हरेक अक्षर के लिए एक पृष्ठ इस्तेमाल करें।

– पाठ्यपुस्तक पढ़ते समय या शिक्षक द्वारा दी जा रही व्याख्या सुनते समय उन शब्दों को इकट्ठा करें जिनका मतलब एक-समान हो। हिन्दी (अंग्रेज़ी) और अपनी मातृभाषा में भी शब्द इकट्ठा करें। समान अर्थ वाले हिन्दी (अंग्रेज़ी) के शब्दों को, एक कार्ड या कॉपी के पन्ने पर लिखें। फिर उल्टे पन्ने पर अपनी मातृभाषा में, उन्हीं शब्दों का अर्थ लिखें। जैसे यहां 'योग' और 'हल' शब्द के कुछ अर्थ दिए गए हैं।

योग	**हल**
जोड़	करके देखें
साथ मिलाएं	उत्तर निकालें
संकलन	मूल्यांकन करें
धन	
+	गणना करें
	वर्णन करें

यदि आपके सामने गणित का कोई ऐसा शब्द आए जिसे आप नहीं समझते हों तो सबसे पहले उसे कक्षा के शब्दकोश में देखें। अगर उसमें न मिले तो उसे शब्दकोश में जोड़ें और उसे समझाने के लिए कोई उदाहरण या चित्र भी बनाएं।

शब्दकोश की वही प्रविष्टियां श्रेष्ठ होंगी जो एक सरल वाक्य में लिखी हों और जिनके साथ कोई चित्र या उदाहरण शामिल हो, जैसा कि नीचे दी दूसरी परिभाषा में किया गया है। पहली परिभाषा काफी लम्बी और जटिल है। इस प्रकार न लिखें।

सममिति – सिमेट्री (एक)

(सुंदरता जो) अंगों की अनुरूपता के कारण (नाप में, डिज़ाइन आदि में) भिन्न हिस्सों में पाई जाती है।

'उसके माथे पर बाईं ओर के फोड़े ने, उसके चेहरे की सममिति को खराब कर दिया।'
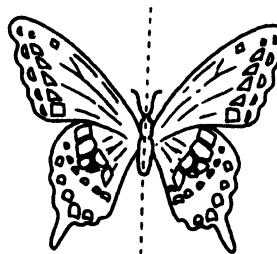
सममिति (दो)

जो चित्र संतुलित होगा उसमें सममिति होगी। अगर किसी चित्र को आधे से काटने पर, दोनों भाग एक समान हों तो, उन हिस्सों में सममिति होगी।
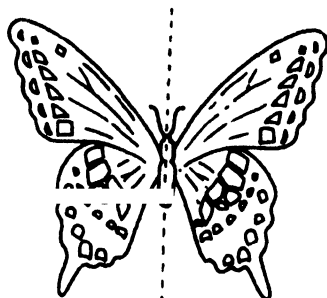
शब्दकोश को कक्षा में एक खास जगह पर रखें। जब कभी आपको कोई नया शब्द मिले या कोई ऐसा शब्द मिले जिसका मतलब शब्दकोश में किसी शब्द के समान हो, तो उसे शब्दकोश में अवश्य जोड़ें।

गतिविधि: गणित के ऐसे शब्द खोजें जिनका गैर-गणितीय मतलब हो

गणित के कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका रोज़मर्रा की भाषा में मतलब बिल्कुल अलग होता है जैसे मूल, विषम आदि।

ऐसे शब्दों की सूची बनाएं। उनकी सरल व्याख्या लिखें या एक उदाहरण द्वारा उनका अर्थ समझाएं।

पाठ्यपुस्तक पढ़ते समय अगर आपको कोई सुपरिचित शब्द मुश्किल लगे तो यह मालूम करें कि क्या उस शब्द का, कोई विशेष गणितीय अर्थ है।

ऐसे सामान्य शब्द जिनका गणित में एक विशेष अर्थ है:

मूल – जैसे 4 का वर्गमूल ज्ञात करें।

विषम – जैसे कि विषम अंकों में 1, 3, 5, ...

गतिविधि : शब्द समस्याओं की शब्दावली को समझना

शब्दों में दिए गए प्रश्न हमें रोज़मर्रा की समस्याओं का गणितीय हल खोजने को कहते हैं। इन प्रश्नों में उपयोग किए गए अधिकतर शब्दों का गणित से कोई खास लेना-देना नहीं होता है।

पूरी कक्षा को 3 -4 छात्रों के समूहों में बांटें। हरेक समूह, पाठ्यपुस्तक

की 3-4 शब्द समस्याओं पर ध्यान दे। इस प्रकार पूरी कक्षा मिलकर 50 से ज़्यादा शब्द समस्याओं का विश्लेषण कर पाएगी।

– आपके पास जो शब्द समस्याएं हों उनमें से उन शब्दों की एक सूची बनाएं, जिनका अर्थ आप नहीं समझते हों।

– इस सूची की नकल करें। नकल वाली कॉपी अपने पास रखें।

– अब अपने समूह की सूची को किसी अन्य समूह की सूची के साथ बदलें। अपनी सूची की तुलना दूसरे समूह की सूची के साथ करें। अगर आपकी सूची में कोई ऐसा शब्द हो, जिसे दूसरे समूह ने भी पहचाना हो, तो उस पर निशान लगाएं।

– इस प्रकार सभी सूचियों को सभी समूहों में घुमाएं। हरेक समूह अपनी सूची की, अन्य समूहों की सूचियों के साथ तुलना करे। जब कभी आपको किसी अन्य सूची में कोई ऐसा शब्द दिखे जो आपकी सूची में भी हो, तो उस पर निशान लगाएं।

– जो शब्द, सबसे ज़्यादा बार पहचाने गए हों, उनमें से 5-10 शब्दों को चुनें। ये वे शब्द होंगे जो प्रश्नों में बार-बार आते हैं और बहुत से छात्र जिनका मतलब नहीं समझ पाए हैं।

– इन शब्दों का अर्थ मालूम कर कक्षा के शब्दकोश में लिखें। शिक्षक भी पुराने परीक्षा -पत्रों को देखें और जो शब्द, बहुत से छात्रों को समझ में नहीं आएं हों, उनकी सूची बनाएं। वे यह भी पक्का करें कि परीक्षा से पहले, छात्र उन शब्दों का अर्थ समझ जाएं।

■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■

ग्रहण मिथक और भारतीय समाज

मूल लेख: रणजीत गुहा

संपादन: गौतम पांडेय

सत्ता संबंधों के प्रति निम्न वर्ग (सबाल्टर्न) और अभिजात्य वर्ग (एलीट) के दृष्टिकोण मिथकों, उपासना पद्धतियों, कर्मकांडों और रिवाज़ों के रूप में संग्रहित होते रहते हैं और लोगों की आस्था में भी झलकते हैं। अलबत्ता इनकी ठीक-ठीक व्याख्या आसान नहीं होती। अक्सर ये मौखिक परम्परा का हिस्सा बन जाते हैं और समय के साथ इनमें बहुत कुछ जुड़ जाता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार डी. डी. कोसांबी ने बताया है कि किस प्रकार हमारी

संस्कृतियों में प्राचीन आदिवासी अतीत के अवशेष तथा बाद में होने वाले सामाजिक विकास के तत्व मौजूद हैं। निम्नतम जातियां ''प्राय: अपने जनजातीय अनुष्ठानों, रस्मों तथा मिथकों को आज भी बचाए हुए हैं।'' ये मिथक अपने शुरुआती स्वरूप में नहीं हैं। अलबत्ता यदि गौर किया जाए तो अनेक मिथकों का मूल स्रोत किसी प्राचीन अनिर्णीत द्वंद्व में पहचाना जा सकता है। इस नज़रिए से ग्रहण संबंधी मिथकों का एक विश्लेषण यहां दिया जा रहा है।

1

मिथक :1

... समुद्रमंथन से प्रकट हुए रूपवान देव धन्वंतरी के हाथ में अमृत से भरा एक सफेद तूंबा था। इस चमत्कार को देखते ही दानवों ने अमृत के लिए चीत्कार किया – यह हमारा है। परन्तु भगवान नारायण ने अपनी सम्मोहिनी शक्ति का प्रयोग कर, एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर लिया और दानवों के पास जा पहुंचे। सुंदरी के रूप के वशीभूत दैत्यों और दानवों ने अमृतघट उसे सौंप दिया। मोहिनी के रूप में विष्णु ने वह अमृत देवताओं को पिलाना शुरू कर दिया। राहु नामक एक दानव ने यह चाल समझ ली। वह देवता का रूप धरकर उनकी पंक्ति में जा बैठा। इस प्रकार उसने भी अमृतपान किया। तभी अपनी पंक्ति में बैठे इस दानव को पहचान कर सूर्य और चंद्रमा ने शोर मचाया। चक्रधारी विष्णु ने तुरन्त दानव का सिर धड़ से अलग कर दिया। लेकिन अमृत पान करने के कारण उसका सिर और धड़ दोनों ही राहु और केतु के नाम से जीवित रहे। तभी से दानव के सिर यानी राहु और सूर्य व चन्द्रमा के बीच शत्रुता चली आ रही है। माना जाता है कि सूर्य और चंद्रग्रहण के समय राहु कुछ समय के लिए दोनों को निगल लेता है।

दैवी हिंसा के इस प्रतीक में नैतिकता के प्रश्न पर संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। सृष्टि निर्माण के द्वंद्व में दो विरोधी शक्तियों के बीच – अमृत तथा विष (कालकूट) के बीच, देवताओं व दानवों के बीच – परस्पर क्रिया अनिवार्य थी। अमृत के लिए लड़ाई में विष्णु ने अपनी शक्ति देवताओं के साथ जोड़ दी तथा दानवों का जायज़ हिस्सा हड़पने के लिए एक ओछी, यौन आधारित तरकीब अपनाई। फिर भी जब एक बहादुर दानव ने उनकी पंक्ति में जा बैठने का दुस्साहस किया तो उसे दोहरे अपराध का दण्ड देना आवश्यक हो गया। एक तो देवताओं का भोजन हड़पने की धृष्टता का तथा

दूसरा उनके आनुष्ठानिक भोज को भ्रष्ट करने का। इस तरह से उस अमृत उत्सव को वध का अवसर बनाते हुए दंड के सर्वोच्च ब्राह्मणीय मानक के अनुकूल दोषी का सिर काट दिया गया।

ग्रहण और लोक कथाएं

अनेक संस्कृतियों में ग्रहण से संबंधित मिथकों और अनुष्ठानों में वियुक्ति और विकृति की जो धारणा है उनके साथ यह प्रतीक अच्छा मेल खाता है। ग्रहण "एक व्यवस्था में व्यवधान का प्रतीक है जो सूर्य और चन्द्रमा, रात और दिन, प्रकाश और अन्धकार, गर्मी और सर्दी के चक्र को चलाने वाली व्यवस्था को भंग करती है।"

आम आदमी की सोच में सामाजिक व्यवस्था में होने वाली गड़बड़ियां, ग्रहण के समय प्रकृति के कार्य में होने वाली अशुभ गड़बड़ी से संबंधित हैं। ऐसा माना जाता है कि ग्रहण प्रजनन चक्र को भी गड़बड़ा सकते हैं। वे जन्म को स्थगित या विकृत करके जीवन-मृत्यु के चक्र में रुकावट पैदा कर सकते हैं। अतः लोककथाओं में प्रसव पर ग्रहण के दुष्प्रभावों के बारे में बार-बार चेताया गया है। गर्भवती औरतों और कुछ क्षेत्रों में तो उनके पतियों को भी ग्रहण देखने की मनाही है अन्यथा विकलांग बच्चा पैदा होता है। यहां तक कहा जाता है कि ग्रहण के दौरान जिस तरह का काम किया जाता है वैसा ही प्रभाव बच्चे के शरीर पर स्थाई रूप से पड़ जाता है, जैसे कि कतरने-काटने का काम करने पर जन्म के समय बच्चे का कटा हुआ ओंठ, लकड़ी काटने पर अंगुलियों पर वैसे ही निशान, ताले

का काम करने पर टेढ़ी अंगुलियां तथा माता-पिता द्वारा आंखों में सुरमा लगाने या माथे पर तिलक लगाने पर शरीर पर अनेक प्रकार के जन्म-चिन्ह आ जाते हैं।

ये सभी बातें धर्मशास्त्र में वर्णित दण्डविधान के अनुकूल हैं। इनके अनुसार पापी के शरीर का वह अंग दण्डित होता है जो सीधे तौर पर पापक्रिया का भागी हो। ग्रहण के समय प्रसव होने पर हानि शारीरिक दोष तक सीमित नहीं रहती। वह अनेक तरीकों से मनुष्य को जीवन भर सता सकती है: "यदि किसी का जन्म राहु की दशा में हुआ हो तो उसकी बुद्धि, सम्पत्ति व सन्तान को हानि होती है, उसे अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है तथा उसका शत्रु-पक्ष प्रबल रहता है।"

ग्रहण के कारण समाज को वैसा ही सूतक लगता है जैसा मृत्यु के बाद लगता है। इसकी व्याख्या में शुचिता की हिन्दू धारणा और राहु के मिथक को साथ-साथ रखा गया है: "... जब ग्रहण लगता है तो राहु जो एक विशाल सर्प है, सूर्य या चन्द्रमा को ग्रस लेता है। इस तरह से ग्रहण का अर्थ सूर्य या चन्द्रमा में से एक की मृत्यु है, अतः जितनी देर ग्रहण रहता है लोगों को मृत्यु सूतक का पालन करना चाहिए।"

कुछ दूसरी धारणाओं के अनुसार इस अपवित्रता का कारण सूर्य या चन्द्रमा की मृत्यु नहीं बल्कि राहु का आगमन है। ठीक उसी तरह जिस तरह किसी अछूत की छाया मात्र से ब्राह्मण दूषित हो जाता है। चूंकि इस तरह की अपवित्रता संक्रामक है इसलिए जितने समय तक ये ग्रह राहु की पकड़ में रहते हैं, पूरा संसार सूतक यानी अपवित्रता की स्थिति में रहता है। किसी दानव की परछाई भी उतनी ही दूषित होती है जितना किसी भंगी का स्पर्श इसलिए जिस-जिस पर वह परछाई पड़ती है वे सभी अपवित्र हो जाते हैं।

इस सदी की शुरुआत में गुजरात के उच्चवर्गीय रीतिरिवाज़ों के बारे में एक प्रेक्षक ने लिखा है: "ग्रहण के समय सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही अपवित्र हो जाते हैं। इतना ही नहीं, जिस पर भी उनका प्रकाश पड़ता है वह भी अपवित्र हो जाता है।" परिणाम स्वरूप सारा खाना और पीने का पानी भी दूषित हो जाता है और उसे फेंक दिया जाता है। ग्रहण की अवधि में न तो खाना पकाया जाता है, और न ही चावल साफ करने या मसाला पीसने का काम किया जाता है। ग्रहण की अवधि में मृत्यु भी अशुभ मानी जाती है।

राहु के दुष्प्रभावों को कम करने के लिए सुझाए गए कर्मकाण्ड उसकी कुत्सित छवि को सुदृढ़ करने का काम करते हैं। इनमें कुछ रीतियों का संबंध

गंध से है। मसलन, दक्षिण भारत में ग्रहण के समय जानवरों के खुर और सींगों को इस उम्मीद से जलाते हैं कि दुर्गन्ध से दुष्ट आत्माएं दूर रहेंगी। मगर इससे भी प्रचलित उपाय शोर मचाने का है। अठारहवीं सदी में एक ईसाई मिशिनरी ने अपने सफरनामों में "कथित दैत्य के मुंह से विशाल निवाले को निकालने के लिए हो-हल्ले का ज़िक्र किया है।" जैसे असम में घंटे बजाने, नीलगिरि की टोडा जनजाति में चिल्लाने और कुर्ग में गोलियां दागने की परंपरा है।

इस तरह से मिथक और कर्मकाण्ड ने मिलकर राहू की उस शास्त्रोक्त हिन्दू छवि को पुष्ट किया है जो ब्रह्मांड और समाज दोनों के लिहाज़ से एक शरारती ताकत है, आकाश में जिसके आगमन मात्र से ब्राह्मणों के दिलों में विश्व विनाश का भय पैदा हुआ था।

राहु और उसके अनुयायी

परन्तु इस विषय में जीत ब्राह्मणों की नहीं हुई। भक्षक और दूषक के रूप में बदनाम होने के बावजूद हिन्दू समाज के निचले स्तर पर राहु के अनुयायी बड़ी तादाद में हैं। औपनिवेशिक काल के साहित्य में हमें इसके कई प्रमाण मिलते हैं। 19वीं सदी के आरंभ में बुकानन-हैमिल्टन से लेकर राज के आखिरी पचास वर्षों के दौरान अनेक प्रशासकों व मानवजाति-विश्लेषकों ने यह माना है कि ग्रहण संबंधी प्राचीन धारणा आज भी डोम, दुसाध, भंगी और मांग जैसी कई जातियों की आस्था प्रणाली का जीवन्त तत्व है।

अपने भीतरी ढांचे और जीवन-शैली के लिहाज़ से ये जातियां काफी भिन्न हैं, परन्तु एक साथ देखने पर ये एक समूह बनाती हैं। ब्रिग्स ने इसे डोम समूह कहा है। घोर गरीबी, सामाजिक लांछन और अस्पृश्यता इन सभी ने समान रूप से भोगी है। आज से करीब पचहत्तर साल पहले एक पर्यवेक्षक ने उनकी दशा का वर्णन कुछ इस प्रकार किया था:

"वह (डोम) अरहर के खेत में पैदा होता है और बचपन से ही चोरी की तालीम पाता है। कल उसके पास सिर पर छत और पेट में रोटी होगी या नहीं, यह भी उसे पता नहीं होता। वह निरंतर पुलिस से छिपता भागता और गांवों से निकाला जाता रहता है।... हिन्दू धर्म उस तक पहुंचने में असफल रहा है... तथा सभ्यता की प्रगति ने उसे और अधिक गर्त में ढकेल दिया है।"

यह विवरण चाण्डालों और श्वपचों के बारे में मनु की धारणा से काफी मिलता जुलता है और कई विद्वानों के अनुसार यही चाण्डाल और श्वपच

ऊपर वर्णित जातियों के पूर्वज थे।

"...चाण्डाल और श्वपचों के घर गांव की सीमा के बाहर होंगे... उनकी संपत्ति कुत्ते और गधे होंगे। उनका पहनावा मुर्दों के उतारे वस्त्र होंगे। वे टूटे-फूटे बर्तनों में खाना खाएंगे, लोहे के आभूषण पहनेंगे और हमेशा एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहेंगे। .... रात के समय वे गांवों या कस्बों में नहीं घूमेंगे।"

ज़ाहिर है कि बीतते समय के साथ भी डोम तथा इस समूह की अन्य जातियों की सामाजिक स्थिति में कोई फर्क नहीं आया। मनु के आदेशानुसार वे 20वीं सदी तक एक स्थान से दूसरे स्थान तक भटकते रहे। शास्त्रों में उनकी यह खानाबदोशी एक फतवा है, वहीं अंग्रेज़ी राज के सरकारी दस्तावज़ों में इसे उनका स्वभाव बताया गया है। यह इस बात का सूचक है कि पिछले डेढ़ हज़ार सालों में मानवजाति संबंधी लेखन धार्मिक से धर्मनिपेक्ष हुआ है। परन्तु पुरातन से लेकर आधुनिक काल तक की यह विकास यात्रा एक ऐतिहासिक परिघटना पर टिकी है। यह ऐतिहासिक परिघटना है कुछ आर्य-पूर्व जनजातियों द्वारा आर्यों के कृषि प्रधान समाज व उनकी ब्राह्मणों के आधिपत्य वाली आध्यात्मिक व्यवस्था में समाहित होने से इंकार। कोसांबी ने इस तथ्य का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है:

"आज भी हम सामाजिक संरचना के सबसे निचले स्तर पर शुद्ध आदिवासी समूहों को ही पाते हैं। उनमें से कई अब भी भोजन संग्रहण की अवस्था में ही हैं जबकि बाकी समाज भोजन उत्पादन की अवस्था में है। इसलिए इन भोजन संग्रहकर्त्ताओं के लिए भोजन संग्रहण का मतलब भीख मांगना या चोरी करना हो जाता है। अंग्रेज़ों ने इन निम्नतम जातियों को 'अपराधी जनजाति' नाम ठीक ही दिया क्योंकि अपने जनजातिय कानूनों के अलावा वे किसी प्रकार के नियम-कानूनों को मानने से इन्कार करते थे।

"विभिन्न स्तरों में बंटे इस भारतीय समाज में हमें न केवल इतिहास की झलक मिलती है बल्कि उसकी समझ भी बढ़ती है।... यह बड़ी सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि कई जातियों का सामाजिक-आर्थिक स्तर इसलिए नीचा है क्योंकि उन्होंने हमेशा से भोजन उत्पादन और खेती-बाड़ी को अपनाने से इंकार किया है। ये निम्न जातियां प्रायः कबीलाई अनुष्ठानों, रिवाज़ों और मिथकों को जीवित रखती हैं।"

यह प्रामाणिक तौर पर बताया गया है कि डोम और मांग जैसी कुछ जातियां शुद्ध रूप से आदिवासी मूल की हैं। जबकि दुसाध और भंगी जैसी जातियों की उत्पत्ति तो जनजातिय है

मगर उनमें गैर-जनजातिय लोग भी शामिल हो गए हैं। बहरहाल खास बात है उनकी खेती करने की अनिच्छा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अन्न उत्पादन के प्रति उनकी यह ऐतिहासिक अनिच्छा उन्हें अपने पुरखों से मिली हैं। अपनी इसी अनिच्छा के कारण वे खानाबदोश खेतिहरों या भूमिहीन मज़दूरों के रूप में अपनी जीविका कमाने को मजबूर रहे। गांवों में सबसे गरीब होने के कारण वे ज़मींदारों व सरकार के लिए बेगार के मुख्य स्रोत बने व सबसे 'घृणित काम करने को विवश किए गए।' इसके अलावा एक विकल्प के रूप में इनके हिस्से आवारगी की ज़िन्दगी और साथ ही भीख मांगने या चोरी-चकारी की आदत ही आई। धीरे-धीरे ये जातियां खेती-बाड़ी पर निर्भर होते समाज के हाशिए पर रह गईं। मनु के ज़माने से ही बाकी जनसंख्या इन्हें अन्तवसायिनाः के रूप में घृणा से देखती थी और अधिकारी वर्ग संभावित अपराधी मानकर इन्हें सताते थे। उपनिवेशी राज ने उनकी जीविका के मुख्य स्रोत जंगलों को उनकी पहुंच से बाहर करके उनके जीवन को और भी अभावग्रस्त बना दिया, साथ ही उनके नाम के साथ अपराधी जनजाति का ठप्पा लगाकर उनके बहिष्कृत दर्जे को और भी बढ़ा दिया।

अपवित्र निम्न जातियां

इन जातियों के जीवन में जितनी गरीबी और सामाजिक अवनति पाई जाती है वह आनुष्ठानिक अपवित्रता के समकक्ष ही है। धर्मशास्त्रों में उन्हें एक तरह से अपवित्रता का जीता जागता स्वरूप कहा गया है। यहां तक कि उनके शारीरिक स्पर्श तथा कुछ मामलों में तो उनकी छाया पड़ने मात्र से उच्च जाति वाले पाप के भागी होते हैं। उसके प्राचश्चित स्वरूप सख्त दण्ड व शुद्धीकरण के अत्यंत कठिन अनुष्ठानों का आदेश है। ये कोई खोखले ब्राह्मणीय आदेश नहीं थे। हम पाते हैं कि 18वीं सदी तक सामाजिक प्रथाएं इन आदेशों के अनुरूप होती थीं।

देशी राजाओं के शासन में पूना नगर में दोपहर तीन बजे से सुबह नौ बजे तक महार और मांग जाति का प्रवेश निषिद्ध था क्योंकि इस वक्त उनके शरीर की परछाई लम्बी होती थी जिसके स्पर्श से लोग अपवित्र हो सकते थे। लगता है कि उपनिवेशवाद का 'आधुनिक' प्रभाव भी इस प्रकार के पूर्वाग्रहों को दूर नहीं कर पाया। ब्रिटिश शासन के अन्तिम दशक में लिखा गया यह ब्यौरा इस बात का प्रमाण है:

"जब किसी डोम को न्यायिक अदालत में गवाही के लिए बुलाया जाता है तो वहां बैठे अन्य लोग उसके

स्पर्श से बचने के लिए अपने कपड़े समेट लेते हैं। इस तरह का व्यवहार इस वर्ग के अन्य समूहों जैसे भंगी आदि के साथ भी किया जाता है।''

मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि इस तरह के घृणा के पात्रों ने स्वयं इस धारणा को इतना स्वीकार कर लिया है कि वे खुद भी अपनी अपवित्रता में विश्वास करते हैं। सभी के साथ कोई न कोई ऐसा मिथक जुड़ा हुआ है जिससे पता चलता है कि पुराने ज़माने में किए किसी पाप के कारण उन्हें ऐसा दर्जा मिला है। आम तौर पर उस पाप का संबंध उनके किसी पूर्वज द्वारा ब्राह्मणों के बनाए पवित्रता के किसी नियम को भंग करने से होता है। सबसे पहले डोम – सुपच भगत के बारे में कहा जाता है कि जब शिव-पार्वती ने सभी जातियों को खाने पर बुलाया तो वह देर से पहुंचा और बचा-खुचा खाना खाया। तभी से उसके वंशज सभी जातियों का बचा-खुचा भोजन खाने के लिए बाध्य हैं। इसी तरह की कहानी भंगी भी अपनी वर्तमान हालत के कारण के रूप में सुनाते हैं। इस कहानी में राम और सीता, शिव-पार्वती की जगह ले लेते हैं। इन दोनों समुदायों में उनके पुरखों द्वारा मरे हुए जानवरों को छूने जैसा अपवित्र काम करने की दंतकथा भी है। मांग जाति में उनकी जन्मजात अपवित्रता की वजह उनके एक पुरखे द्वारा एक सांड का बन्धयाकरण करने के कारण मिले श्राप को बताया जाता है। हिन्दु पौराणिक कथाओं में सांड को शिव का वाहन माना जाता है। इस तरह की अनेक कहानियां हैं जिनके माध्यम से ये बदनसीब अपनी बदन-सीबी को जायज़ साबित कर पाते हैं।

मगर यह कहना ठीक नहीं होगा कि यह ठेठ धार्मिक सोच हिन्दू समाज के निम्नतम वर्ग को तसल्ली देने का एक तरीका भर है। दरअसल इसी चेतना के कुछ और तत्व भी हैं जो समांतर मिथकों और दंतकथाओं के माध्यम से प्रकट होते हैं। ये भी उसी निम्नवर्ग द्वारा गढ़े गए हैं। ये मिथक धार्मिकता का प्रयोग सीधे विद्रोह की घोषणा के रूप में नहीं तो बेकसों की आह का बोध करवाने हेतु तो करते ही हैं।

स्वीकृति या विद्रोह

इस तरह की आलोचनात्मक सोच के तत्व इन जातियों की आस्था-प्रणाली में साफ तौर पर दिखते हैं। इस समीक्षात्मक सोच में सामाजिक और सांस्कृतिक वर्चस्व को स्वीकार करने की बजाय अवज्ञा का रुझान है। मगर इस सोच को कार्यरूप देने का ऐसा कोई सशक्त प्रयास नहीं दिखता है कि दुनिया पलट जाए। बल्कि अपने

सामर्थ्य को पहचानने की इसी असफलता के कारण उनकी आस्था-प्रणाली, उनका फायदा न करके, कर्मकाण्डों के दिखावे के ज़रिए उस वर्चस्व को ही बढ़ाती रही है। यह विरोधाभास ही निम्न जातियों की धार्मिकता के मूल में है। अतः इन दोनों प्रवृत्तियों को साथ-साथ देखना होगा – प्रभुताशाली संस्कृति की तरफ झुकाव की प्रवृति और विद्रोह की ओर खींचने वाली प्रवृति।

डोम समूह के कुछ मिथक इस विरोधी मगर पूरक प्रवृत्ति को साफतौर पर अभिव्यक्त करते हैं। इसका पता हमें इस तरह चलता है कि जिन वास्तविक और मिथकीय चरित्रों को प्रभुताशाली संस्कृति में बिल्कुल निम्न व अवांछनीय माना गया है, उन्हें ही ये जातियां देवता मानकर पूजने की आध्यात्मिक धृष्टता करती हैं। वास्तविक चरित्रों के खास उदाहरण वे वास्तविक चोर और डाकू हैं जिन्हें मरने के बाद महिमा मंडित किया गया, मिथकीय चरित्रों में दंतकथाओं के नायक हैं जिनके साहसिक कारनामों ने इन डरे हुए कमज़ोर लोगों को ख़ूब प्रभावित किया और वे इनके लिए शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों तरह की अति-मानवीय ताकत के उदाहरण बन गए।

इतिहास में दो कारणों से बड़ी उथल-पुथल हुई है। एक आर्यवाद और दूसरा उपनिवेशवाद। ये पौराणिक नायक उन दोनों उथल-पुथल की आध्यात्मिक विरासत का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता का एक बड़ा भाग न तो कृषि प्रधान समाज की भौतिकवादी संस्कृति से जुड़ा और न ही ब्राह्मणों द्वारा शासित हिन्दु धर्म की आध्यात्मिक संस्कृति में घुल-मिल पाया। यहां तक कि अंग्रेज़ी राज के समय तक यह वर्ग अलग-थलग ही रहा। इन्होंने अपने लिए अपराध का एक वैकल्पिक जीवन ढूंढ लिया है तथा उसी के साथ जोड़ बैठाते हुए धर्म का वैकल्पिक स्वरूप भी बनाया, जिसके अन्तर्गत अपराधी देवता बन गए।

इस प्रक्रिया के अंतर्गत हिन्दू समाज के कुछ प्रमुख मूल्यों को पलट दिया गया और धर्म के रक्षकों की नज़र में सर्वथा समाज-विरोधी मानी जाने वाली चीज़ों को उच्च धार्मिक स्थान दे दिया गया। यह प्रक्रिया इतने लंबे समय से चली आ रही है कि हम इसे एक प्रति-परंपरा कह सकते हैं। इतिहासकार कौसांबी के अनुसार देश के पश्चिम में यह माना जाता है कि वहां की एक देवी बोल्हाई (कोरा जनजाति) डाकुओं के साथ चली गई थी। लगता है कि बोल्हाई बड़े समय तक इस बर्बर जनजाति की संरक्षक रही होगी। इसी प्रकीर से दुसाध जाति के लोग गौरैया और सलेश नामक लुटेरे नायकों को पूजते हैं, गडंक नामक डाकू अपने साथी समैया के साथ मघैया

डोमों का पूज्य बन गया और डाकू सरदार स्याम सिंह तो पूरे डोम समूह का रक्षक देव व पूर्वज माना जाता है। ये सब इन जातियों के जनजातिय प्रागैतिहास के गवाह हैं। हिन्दु मन्दिरों की मूर्ति परम्परा से अलग इन जातियों के देवता पत्थर और पिण्ड के रूप में मिलते हैं। इससे भी इन जातियों के बर्बर जनजातिय अतीत की धारणा पुष्ट होती है। साथ ही देवताओं को सुअर, मुर्गा और शराब चढ़ाने का रिवाज़ है जो खास तौर पर ब्राह्मणीय परंपरा के विरुद्ध है।

डाकू से देवता बनने वाला एक अन्य चरित्र है वाल्मीकि, जिनका सम्प्रदाय किसी खास प्रदेश तक सीमित नहीं था। दक्षिण समेत पूरे उपमहाद्वीप में वाल्मीकि अनेक निम्न जातियों के आराध्य हैं। सभी हिन्दू भी यह दंतकथा मानते हैं कि किस तरह से वाल्मीकि ने हिंसा का रास्ता छोड़कर तपस्या की और उससे उन्हें मुक्ति मिली, परन्तु अछूतों ने अपने पूर्वजों से जुड़े अनेक मिथकों के साथ वाल्मीकि का नाम जोड़कर उन्हें भी अपना लिया। उन्हीं में से एक कहानी के अनुसार वे क्रमशः डोम और भंगियों के पूर्वज कालू और जीवन के पिता थे। कुछ अन्य कहानियों में उन्हें भंगियों के पूर्वज लालबेग या उनके पुत्र के रूप में, डोम जाति के संस्थापक सुपच भगत के रूप में पहचाना जाता है। एक कथा में उन्हें एक पाण्डव भाई नकुल के रूप में पहचाना गया है जिसे शब्दों के हेर-फेर के आधार पर प्रथम भंगी का दर्जा दिया जाता है।

वाल्मीकि का एक अर्थ 'अच्छा लड़का' भी है। कथा के अनुसार एक शव को उठाने के लिए नकुल को राज़ी करने हेतु उसके भाइयों ने इसी शब्द का उपयोग किया था। इस प्रकार से, भाषा के हेर-फेर से, नकुल बाल्मिक और आगे चल कर वाल्मीकि बन गए। फिर इसी तरह के भाषाई खिलवाड़ के ज़रिए वे सूप बनाकर बेचने वाले लोगों के पूर्वज सुपच भगत के रूप में पहचाने गए। डाकू से कवि बने वाल्मीकि ने रामायण में एक अत्यंत सद्गुणी शुद्र के वध को आदर्श न्याय माना है क्योंकि वह आध्यात्मिक उत्कृष्टता व उसके फल का इच्छुक था, जो केवल ऊंची जाति वालों का एकाधिकार था। भंगी जाति ने इसका अच्छा जवाब दिया कि उन्होंने बिन-सुधरे डाकू को ही 'संस्कृतिकरण' के बगैर ही अपना पुरखा व संरक्षक देव मान लिया। यदि सामाजिक दस्युता की धारणा को हम उस उभयमुखी नैतिकता की अभिव्यक्ति मान लें जो निम्न वर्ग की तथाकथित अपराधी प्रथाओं के मूल में है, तो वाल्मीकि तथा अन्य कई देवता बने अपराधियों की पूजा उस नैतिकता की धारणा का चरमोत्कर्ष है।

यह वैकल्पिक नैतिकता और उसमें

निहित आलोचना सिर्फ दस्युओं को ही आध्यात्मिक दर्जा देने के उदाहरण में ही नहीं बल्कि पौराणिक कथाओं के खलनायक राजा वेण को अपनाने में भी दिखता है। ब्राह्मणीय साहित्य राजा वेण की दुष्टता से भरा पड़ा है। मनु ने उस पर विधवा विवाह आरंभ करवाने, या कम-से-कम उसे सहन करने का आरोप लगाया है। पद्म पुराण के अनुसार वह एक अच्छा राजा था परन्तु जैन विधर्म की ओर भटक गया था। धर्माचार्यों के अनुसार उसका सबसे बड़ा अपराध यह था कि उसने ऐसे सारे अनुष्ठानों, बलि, उपहारों आदि पर रोक लगा दी थी, जो स्वयं उसको समर्पित न हों। पण्डितों द्वारा उलाहना दिए जाने पर उसने तिरस्कार पूर्वक कहा था "राजा ही सारे भगवानों का साकार रूप है ...." ऋषियों व पंडितों के लिए यह सब असहनीय था, इसलिए उन्होंने कुश की धार से उसे काट दिया। कहा जाता है कि मलेच्छ व विंध्य क्षेत्र की निषाद जैसी जंगली जातियां उसके शरीर से ही उत्पन्न हुई हैं, और डोम भी अपने आप को उसका ही वंशज बताते हैं जो शायद उनकी जनजातीय उत्पत्ति दर्शाता है। इन दावों का ऐतिहासिक आधार कुछ भी हो, परन्तु ये डोम परम्पराओं में मिलने वाली विद्रोह की प्रवृति से मेल ज़रूर खाते हैं, जैसे कि बस्ती-गोरखपुर के डोम राजाओं ने ब्राह्मणों की बेटियों से विवाह का प्रस्ताव कर उन्हें क्रुद्ध कर दिया था।

निम्न जातियां और ग्रहण

राहु भी देवताओं का दुश्मन और ब्राह्मणों के लिए एक समस्या है। डोम समूह में राहु का महत्व निम्न जातियों द्वारा वर्ण व्यवस्था और हिन्दू संस्कृति के वर्चस्व के विरोध का एक और नमूना है।

पूर्णिया क्षेत्र में किए गए एक अध्ययन से मालूम होता है कि नाथपुर के दुसाध इस मामले में ब्राह्मणों की अवज्ञा के रूप में अपने रीति-रिवाज़ों का प्रदर्शन करते थे। वहां राहु की पूजा के दौरान उनके भगत पहले उबलते पानी में हाथ डालते थे, फिर दहकते अंगारों पर तीन बार चलते थे। सभी दर्शक या कम-से-कम दुसाध तो यही मानते थे कि देवता आने के कारण ही उस पर आग का असर नहीं होता। वे लोग आसपास उपस्थित ब्राह्मणों को भी ललकारते थे कि वे भी उनके भगत की तरह चमत्कार करके दिखाएं।

अभिजात और निम्न जातिओं के धार्मिक स्वरूप के अंतर्विरोधों पर रोशनी डालने का काम कर्मकांडो के एसे प्रदर्शन की अपेक्षा ग्रहण के बारे में निम्न जातिओं में प्रचलित मिथक

बेहतर करते हैं। ये मिथक पौराणिक कथाओं के समानांतर चलते हैं और एक स्वतंत्र वैचारिक समझ की शृंखला-सी बनाते हैं। यह शृंखला अलग-थलग नहीं चलती बल्कि इसमें शास्त्रोक्त हिन्दू मिथकों को अपना रंग देकर उनका रूप बदल दिया जाता है। इसके लिए एक तरफ तो राहु का संबंध डोम अनुयायिओं से जोड़ा जाता है और दूसरी तरफ उसे जाति की सामाजिक और भौतिक परिस्थिति के धरातल पर रख दिया जाता है। इस तरह से मिथक के स्वरूप में जो परिवर्तन आता है वही निम्न जाति की वैचारिकता की खासियत बन जाता है। इस बात को अगली कहानी में समझते हैं।

मिथक :2

. . . . . लंका में रावण को हरा कर लौटने पर राम ने अपनी विजयी सेना के लिए भोज का आयोजन किया। भोजन परोसते हुए महादेव ने पार्वती का ध्यान वहां बैठे एक नीच जाति के मांग लड़के की ओर दिलाकर कहा कि वे उसे दूर से ही भोजन परोसे। परन्तु राम ने उस लड़के को देखते ही उसका वध कर दिया। क्योंकि उस लड़के ने अपनी उपस्थिति से भोज को अपवित्र करने की जुर्रत की थी। उसकी मां ने लड़के का कटा हुआ सिर उठाकर टोकरी में रखा और पानी छिड़क कर उसे ज़िंदा करने का नाकाम प्रयास करने लगी। टोकरी में रखे सिर को उठाए मां ने सभी देवी-देवताओं से भोजन की भिक्षा मांगी। ऐसा करते हुए वह सूर्य व चंद्रमा के पास भी पहुंची। उसने उन्हें धमकी दी कि उसकी इच्छा पूरी न की गई तो वह छूकर उन्हें अपवित्र कर देगी। उस औरत की टोकरी की परछाई जब सूर्य और चंद्रमा पर पड़ती है तो ग्रहण लगता है। इसलिए उस हठी मांग औरत को हटाने के लिए लोगों से कहा जाता है कि वे सूर्य और चंद्रमा को भेंट चढ़ाएं और मांग जाति के लोगों को दान दें। . . . .

पहली नज़र में ही यह दिख जाता है कि किस तरह से इस कहानी में परिवर्तन लाए गए हैं। मिथक-1 की कहानी महाभारत में थी। यह कहानी रामायण में है। और विष्णु की जगह राम आ गए हैं। यहां अपराधी कोई दानव नहीं बल्कि एक अछूत है और उसका अपराध है कि उसने अपनी सीमा को लांघा है। पिछले मिथक के विपरीत इस मिथक में सिर कटने के बाद बदले का भाव नहीं है, बल्कि अपने बेटे को खोकर मां न्याय की खोज में भटकती है। वह सभी देवताओं के आगे हाथ पसारे भीख मांगती है जबकि मिथक-1 में राहु, सूर्य और चन्द्रमा को ग्रसकर आक्रामक रूप धरता है।

परिवर्तनों की इस पूरी शृंखला में प्रमुख बात यह है कि राहु की पहचान मांग जाति से जाड़ी गई है और मांग जाति की सभी परिस्थितियां व

भावनाएं राहु पर आरोपित की गई हैं। भारतीय मिथकों में मनुष्य व ईश्वर की मिलीजुली पहचान आम बात है। इसके लिए तीन उपकरणों का उपयोग होता है – व्याकरण, वंश और सम्प्रदाय। वैयाकरणिक उपकरण किन्हीं दो के बीच योजक पद का काम करता है जैसे 'अ' और 'ब' दोनों एक हैं। मिथक-2 में राहु एक मांग है। मध्यप्रदेश की कुछ लोककथाओं के अनुसार राहु मेहतर या भंगी है। वंश उपकरण इस रूप में आता है कि 'अ' 'ब' का पूर्वज है। बिहार के तिरहुत क्षेत्र के दुसाध राहु को अपना आदि-पुरुष मानते हैं, जो युद्ध में मारा गया था; जबकि मिर्ज़ापुर के दुसाध उस राहु को अपना वंशज मानते हैं जिसे एक झगड़े के बाद बंगाल से उत्तरप्रदेश जाते वक्त पुरी में जगन्नाथ मंदिर में बंद कर दिया गया था। पश्चिमी भारत के मांग भी किसी ऐसे ही राक्षस के वंशज माने जाते हैं जो ग्रहण के समय चन्द्रमा को निगल लेता है। सम्प्रदाय उपकरण का काम किसी देवता के अनुयायी निर्धारित करना है (अर्थात 'ब', 'अ' की पूजा करेगा)। चूंकि पुजारी और संरक्षक देव के बीच वही संबंध होता है जो बच्चे का अपने माता-पिता के साथ होता है, इसलिए वास्तव में अन्तिम दो उपकरण एक-दूसरे का स्थान ले सकते हैं। इसलिए राहु पूजक सम्प्रदाय उसके वंशज भी हैं, हालांकि उनमें से कुछ के पास अपनी उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए दुसाध और मांग जैसे मिथक नहीं हैं।

मध्यस्थ की भूमिका

यहां हम जिस वैचारिक ढांचे की बात कर रहे हैं उसमें ये कड़ियां बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन्हीं कड़ियों की बदौलत पूरे अछूत वर्ग को ग्रहण, उसकी अपवित्रता व कुटिलता के सभी खतरों में वाहक (मध्यस्थ) की भूमिका हासिल होती है – चूंकि वे राहु के लोग हैं, इसलिए वे ही राहु को मनाकर सूर्य और चन्द्रमा को छुड़वा सकते हैं। विडम्बना देखिए कि हिन्दू समाज के सबसे दुर्बल और हेय वर्ग से निवेदन किया जाता है कि वे लोगों को ग्रहण के नुकसान से बचाएं। इसमें उन्हें एक झूठी ताकत मिल जाती है।.... जैसे वे राहु और सूर्य-चन्द्रमा दोनों पर अधिकार रखते हों। राहु पर अधिकार कि वे उससे ग्रहों को छुडवा सकते हैं, और सूर्य-चन्द्रमा के साथ-साथ उन पर निर्भर बाकी सारे लोगों पर अधिकार क्योंकि वे ही उन्हें बचा सकते हैं। ग्रहण के समय इन्हें जो भेंट आदि देने का विधान है वह इनके इस महत्व को स्वीकृति देता है।

बंगाल और बिहार के रिवाज़ उत्तरप्रदेश में प्रचलित इस रिवाज़ से काफी मिलते-जुलते हैं। यहां दान न देकर उच्च जाति के गृहस्थ डोमों के
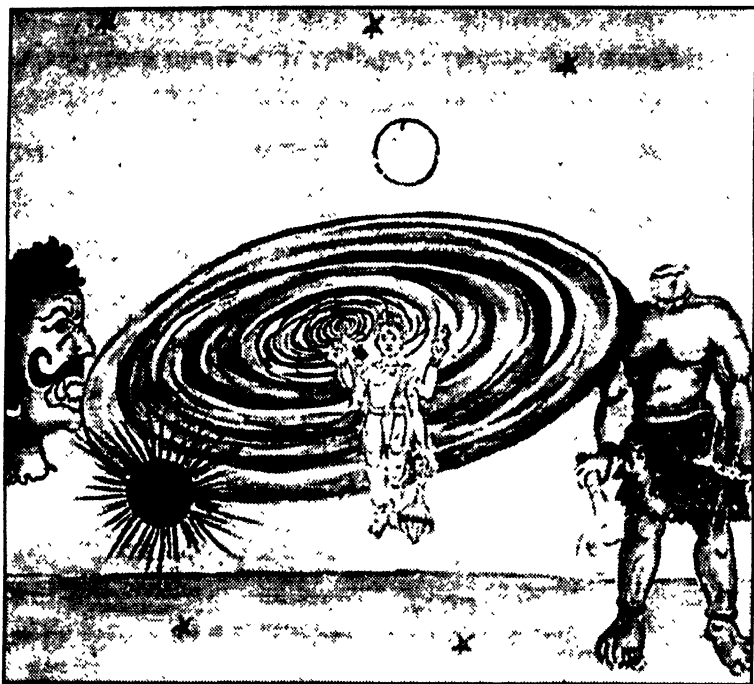
लिए अपने घर के बाहर तांबे के सिक्के रख देते थे।

मध्य प्रदेश में यह विश्वास है कि राहु या तो सफाई करने वाला था या सफाई करने वालों का इष्टदेव, इसलिए ग्रहण के समय लोग इन्हें दाने देते हैं ताकि वे राहु को प्रसन्न करके सूर्य/चन्द्रमा को मुक्त कराएं। गुजरात में ऐसे मौकों पर अंधेरा होते ही भंगी ग्रहणदान, वस्त्रदान, रूपादान चिल्लाते हुए सड़कों पर निकल पड़ते थे।

5

ग्रहण दान – दान या हक

उच्च जातियों के नज़रिए से ये उपहार पृथ्वी पर पवित्रता तथा स्वर्ग में शांति बनाए रखने के लिए दिया गया मूल्य भर है। यह एक कुपित दानव को शान्त करने की प्रक्रिया मात्र है। इसलिए इस कर्मकाण्ड को शान्ति कहा जाता है। ब्राह्मणीय नज़रिए से (मिथक-1) देखने पर इन उपहारों का कोई और अर्थ निकाला ही नहीं जा सकता।

परन्तु अछूत दान प्राप्त करने वालों के द्वारा इन उपहारों को बिल्कुल भिन्न अर्थ में लिया जाता है। जैसा कि मिथक -2 से मालूम होता है। उसके अनुसार मांग औरत द्वारा हठपूर्वक दान लेने के पीछे वह अधिकार है जो उसके पुत्र की हत्या के बाद बेसहारा रह जाने के कारण उसे मिला है। उसे मिलने वाला दान एक तरह से देवताओं का पश्चाताप है, क्योंकि देवताओं के देव राम (विष्णु) तथा शिव ने ही उसके बेटे के प्रति हिंसा की थी। इसलिए जो उसका अधिकार है वह उसे न देना वास्तव में गलत कार्य होगा। अत: ग्रहण के समय दान पाना मांग औरतें अपना हक समझती हैं – एक तरह से न्यायपूर्ण मुआवज़े की नैतिक मांग है यह।

दूसरी ओर दान देने वालों के लिए भी यह एक नैतिकता का सवाल है – उसका हक उसे न देना गलत होगा। हिन्दुओं के लिए दान की धारणा दो-तरफा है जिसमें दानी और दान प्राप्त करने वाले के बीच एक परस्पर निर्भरता का संबंध होता है। इसमें एक प्रकार से 'आर्थिक आध्यात्म' का नियम लागू होता है। इसके अन्तर्गत जिनके पास साधन हैं उनका यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वे दूसरों के साथ उन्हें बांटें। इससे उन्हें आध्यात्मिक तुष्टि प्राप्त होती है जो भौतिक सम्पदा से कम नहीं है। और इससे भौतिक संपदा भी बढ़ती है। इससे वे मांगने व देने (यानी दान) का क्रम भंग करने के पाप से भी बच जाते हैं।

ग्रहण और दान से जुड़ी एक कथा राजा हरिशचंद्र की है। राजा हरिशचंद्र को एक डोम ने खरीद लिया था। इस कथा का डोम संस्करण यह है कि जब हरिशचंद्र स्वर्ग से वापस आकर भीख मांगने लगे तो भगवान ने कहा कि यदि कोई उन्हें भोजन देने से मना करेगा तो सूर्य और चांद गायब हो जाएंगे। डोम आज उनके नाम पर भिक्षा मांगते हैं।

मिथक :3

. . . . . सूर्य और चन्द्रमा भाई-भाई हैं। उनका एक भूखा भक्त उनके पास आया और बोला– "मैं निर्धन और भूखा हूं, मुझे कुछ खाने को दो।" दोनों भाई एक भंगिन के पास गए और बोले कि इस आदमी को अनाज दे दो। वह राज़ी हो गई। भाइयों ने उस औरत से कहा कि वह डिब्बे की तली से अनाज निकाले और वे उसे ऊपर से भर दिया करेंगे। सूर्य और चन्द्रमा पूरा साल अपना वादा नहीं निभा सके। जब एक वर्ष समाप्त हो गया तो औरत ने कहा, चूंकि डिब्बा भरा हुआ नहीं है, इसलिए आप मुझे धन दीजिए। सूर्य और चन्द्रमा उसे धन न दे सके इसलिए छिप गए। अब जब ग्रहण लगता है तो सूर्य और चन्द्रमा के भक्त अनेक प्रकार के अनाजों को मिला कर भिखारियों को बांटते हैं ताकि सूर्य और चन्द्रमा अपनी शर्मिन्दगी से मुक्त हो सकें। . . . . .

इस कहानी में खास बात यह है कि इसका पौराणिक कहानी से कोई मेल नहीं है। न तो राहु का वर्णन है और न ही हिन्दू कथाओं का सहारा लिया गया है। ग्रहों की अव्यवस्था को समझाने के लिए सामान्य ग्रामीण जीवन के तत्वों का सहारा लिया गया है; जैसे भूख, गरीबी, भिक्षा मांगना, दान के सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए पड़ोसी की मदद लेना तथा अपना वचन न निभा पाने की शर्मिन्दगी पर मुंह छिपाना। इस सबको एक कहानी के रूप में बांध दिया गया है ताकि ग्रहों की दुनिया को इहलौकिक रूप दिया जा सके। निम्न वर्ग के कथा संसार का उद्‌देश्य यह है कि अत्यंत अद्‌भुत पर भी विश्वास कराया जा सके। आखिर इससे अद्‌भुत और क्या हो सकता है कि सूर्य और चन्द्रमा के उच्च जाति वाले भक्त भूखे रहें और भंगियों व मेहतरों के डिब्बे अनाज से भरे हों, कि उच्च जाति के भक्त भीख मांगें, उनके देवता उधार लें, जबकि भंगियों और मेहतरों के पास उधार देने को अनाज हो। ग्रामीण समाज जैसे सिर के बल खड़ा हो गया हो, पर अफसोस कि यह परिवर्तन सिर्फ धार्मिक सोच के संसार में ही है।

फिर भी यह फेरबदल महत्वहीन नहीं है; यह गरीबों और हेय लोगों द्वारा अपनी हीन स्थिति को समझने और उससे उबरने की ज़रूरत की अभिव्यक्ति है। वे जब वास्तविक जीवन में समाधान नहीं पाते तो कल्पना की दुनिया में इसकी भरपाई करना चाहते हैं। यह इच्छा इतनी प्रबल तो नहीं है कि मूलभूत बदलाव की प्रेरणा बन पाए, फिर भी यह निश्चय ही निम्न वर्ग की सामाजिक-सांस्कृतिक परि-स्थितियों की आलोचना अवश्य है।

इस बहस में जो बात हमारे लिए विशेष महत्व की है वह यह कि इस आलोचना में चाहे कितना ही बच-कानापन हो, इसमें आगे के विकास के बीज छिपे हैं। इस विकास के प्रारंभिक दौर में इसमें उसी उच्चवर्गीय संस्कृति की भाषा का प्रयोग किया जाता है जिसकी यह आलोचना करने निकली थी। हालांकि मिथक-2 में पौराणिक सामग्री को उलट-पलट कर अछूतों के अनुभवों और बिम्बों के खांचों में बैठाने के संकेत मिलते हैं, लेकिन मिथक-3 में तो निम्न वर्ग की धार्मिकता परवान चढ़ती है। इस कहानी में ब्राह्मणीय संस्कृति द्वारा दी गई सामग्रियों के स्थान पर निम्न जाति के लोगों के जीवन के हालात और उससे उपजे बिम्बों का प्रयोग किया गया है। इस प्रक्रिया में इन्होंने कहानी के प्राचीन बिम्ब 'दान' को पीछे धकेल कर 'बकाया कर्ज़' के बिम्ब को प्रमुख बना दिया है। यह स्पष्ट रूप से 'आर्थिक धर्म विज्ञान' के दायरे से हटकर राजनीतिक अर्थशास्त्र की ओर एक कदम है।

6

दान नहीं, कर्ज़ की अदायगी

विकास की इस प्रक्रिया में आगे चलकर सूर्य और चंद्रमा के साथ राहु की शत्रुता की कहानी को हमारे समाज में मौजूद एक वास्तविक टकराव – कर्ज़दार और साहूकार के बीच के टकराव – के रूप में व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश में प्रचलित इस कहानी को लिया जा सकता है।

मिथक :4

. . . . सूर्य और चंद्रमा राहु के कर्ज़दार हैं, इसलिए वह आकर उन्हें तंग करता है। यही ग्रहण है। भंगी और जमादार को दिया जाने वाला दान उसी कर्ज़ की अदायगी है . . . .

इस कहानी के कई संस्करण हैं और इसे काफी यथार्थ बारीकियों के साथ सुनाया जाता है।

मिथक :5

. . . . सूर्य भंगी का कर्ज़दार है पर वह कर्ज़ चुकाने से इंकार करता है। भंगी भी आसानी से टलने वाला नहीं है। वह सूर्य के द्वार पर धरना देकर बैठ जाता है। उसकी परछाई सूर्य पर पड़ती है। कुछ समय बाद उसका कर्ज़ चुका दिया जाता है और वह चला जाता है। . . . .

मिथक :6

. . . . किसी समय सूर्य और चंद्रमा दोनों ने ध्रुभ यानी राहु से कोई चीज़ उधार ली थी। यह उधार चुकाया जाना ज़रूरी है। जब कभी सूर्य और चंद्रमा यह उधार नहीं चुका पाते हैं तो ध्रुभ उन पर हमला करता है और उन्हें निगलने लगता है, परन्तु वह उन्हें पूरी तरह नहीं खा पाता और उगल देता है। चूंकि उधार अभी तक नहीं चुकाया गया है इसलिए यह प्रक्रिया बार-बार दोहराई जाती है।

इन कहानियों के साथ राहु देवलोक से उतरकर उस लोक का हिस्सा बन जाता है जहां इन सम्प्रदायों का जीवन गुज़रता है। जो कहानी आसमानी हिंसा के रूप में शुरू हुई थी वह सामाजिक हिंसा का रूप ले लेती है। वास्तव में (मिथक में जो कुछ घटता है उससे अलग) यह हिंसा प्रायः पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती हुई बंधुआ गुलामी के रूप में नज़र आती है और डोम समूह के लोग इसके सबसे अधिक शिकार होते हैं। भारत में ब्रिटिश राज के अंतिम समय के दौरान कर्ज़दारी ही डोमों पर सबसे बड़ सामाजिक बोझ था। कर्ज़ की अदायगी पीढ़ी-दर-पीढ़ी, कभी कभी तो सात पीढ़ियों तक, चलती रहती थी। सन् 1931 के एक अध्ययन के अनुसार उत्तर प्रदेश में डोम दास की तरह थे जो किसी ज़मींदार परिवार के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी जुड़े रहते थे, या फिर जीवन भर साहूकार के यहां चाकर बने रहते थे। उनकी गरीबी, सांस्कृतिक पिछड़ापन और कभी-कभी पेट भरने के लिए अपराध का सहारा

लेने की प्रवृति के पीछे कर्ज़ का यही बेरहम बोझ था।

शोषित शाषक के रूप में

हमेशा दमन का शिकार होने वाले के मन में अधिकार (ताकत) की वही तस्वीर बनती है जो स्वयं उनके शोषणकर्ताओं की होती है। चूंकि ये जातियां कर्ज़दार रही हैं इसलिए उनकी नज़र में ताकत वही है जो साहूकार उनके ऊपर रखता है। इसलिए लंबे समय से कर्ज़ में डूबी अनेक ऐसी जातियों और समुदायों की लोक कथाओं में साहूकार को ही अपना आदर्श बना दिया जाता है। जैसे बस्तर के धुरवा समूह की एक कहानी में एक अनाथ लड़के के जीवन की सफलता में साहूकार बन जाना सबसे बड़ी उपलब्धि बताया जाता है। बनियों के क्रूर शोषण से पीड़ित बंबई और राजस्थान के गरासिया लोग मानते हैं कि बनिये के पास ताकत है कि वर्षा कम करवा दे और अकाल पड़वा दे ताकि अनाज की कीमत और उसका मुनाफा बढ़े। राहु के मिथकों में इस छवि को बहुत दूर तक खींचा गया है। वे लोग जो साहूकार के सामने बिल्कुल दबे और झुके हुए हैं, साहूकार को ही अपना रक्षकदेव मान लेते हैं।

लेकिन यदि इस रूप में डोम, दुसाध, भंगी और मांग साहूकार की ताकत को स्वीकार करते हैं तो इसी के माध्यम से वे अपनी मुक्ति भी ढूंढते हैं। उदाहरण के लिए राहु के वंशज तो वे हैं ही; उपरोक्त प्रक्रिया के द्वारा वे स्वयं साहूकार के पद पर जा बैठते हैं तथा आदर्श संसार में उस दासत्व का नाश करते हैं जिससे असली दुनिया में निपटने में वे असमर्थ हैं। विडंबना यह है कि शोषित द्वारा शोषक का जामा पहनने से जो नकारात्मक चेतना उत्पन्न होती है उसकी छाप असली दुनिया को बदलने के कई प्रयासों पर नज़र आती है। परन्तु जैसा कि मिथक 4 और 6 से पता चलता है, धर्म की दुनिया में होने वाली उथल-पुथल भी इस विडंबना से मुक्त नहीं है।

अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि राहु को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतारने की प्रक्रिया के द्वारा सिवा झूठी मुक्ति के और कुछ नहीं मिलता। फिर भी यह सोचना गलत होगा कि हम आगे नहीं बढ़े हैं। दरअसल हम मिथक-1 से काफी आगे, मिथकों की इस शृंखला के आखिरी छोर पर हैं। कितने समय पहले समुद्र मंथन हुआ था और अमृत के लिए देवताओं और राक्षसों के बीच युद्ध हुआ था? कितने समय पहले अमरत्व की दावत में सिर काटा गया था? आज हम अपने वर्तमान में स्थानीय अनुभवों की ठोस ज़मीन पर खड़े हैं, हालांकि शायद उतनी मज़बूती

से नहीं जितना होना चाहिए। यह सच है कि आज भी ग्रहण जैसी प्राकृतिक घटना का स्पष्टीकरण विज्ञान की जगह मिथकों में ढूंढा जा रहा है। परन्तु अब वे मिथक नहीं रहे जिनमें नायक देव और दानव हों; नायक अब आम इंसान है। अमृत के लिए संघर्ष अब उन भौतिक संसाधनों पर नियंत्रण का सवाल बन गया है जिनके सहारे आम लोग जीते हैं। वास्तव में जो कहानी पहले ब्राह्मणीय फंतासी का नमूना थी उसे गरीब और दमित लोगों की मासूम कल्पना ने हमारे समय की लोक कथा के रूप में ढाल लिया है।

इस कहानी के मत्स्यपुराणीय संस्करण के अनुसार "राहु सूर्य और चंद्रमा का शत्रु बन गया तथा वह आज तक ग्रहण के समय उनसे बदला लेता है।" राहु ने अब तक जी भर कर बदला नहीं लिया है तभी निरंतर उसकी कोशिशें जारी हैं। फिर भी यह उसके फायदे की बात है कि उसके दुश्मनों की पहचान पृथ्वी पर कर ली गई है। इन कहानियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कहीं दिमाग में यह संघर्ष अभी भी जारी है – अंतिम तीन मिथकों के रूपक यह बताते हैं कि उस दिमागी संघर्ष को सामाजिक संघर्ष में बदलने की आज पहले से कहीं बेहतर संभावनाएं हैं।

यह लेख 'द ट्रुथ युनाइट्स: एसेज़ इन ऑनर ऑफ समर सेन, (संपादक अशोक मित्र) किताब से लिया गया है। इस किताब में प्रोफेसर रणजीत गुहा का लेख 'द केरियर ऑफ एन एंटी गॉड इन हेवेन एंड ऑन अर्थ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।

प्रोफेसर रणजीत गुहा: आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन के एक मुख्य स्तंभ। सबाल्टर्न स्कूल के प्रवर्त्तकों में से एक रहे हैं। प्रो. गुहा ने मुख्य रूप से आधुनिक भारत के कृषक आंदोलनों पर काम किया है। इनकी एक मशहूर किताब 'ऐलीमेंट्री आस्पेक्ट्स ऑफ पेज़ेंट इनमरजेंसी इन कॉलोनियल इंडिया' है।

गौतम पांडेय: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम से जुड़े हैं।

संदर्भ सदस्यता की दरें इस प्रकार हैं:

सदस्यता शुल्क	एक साल	दो साल	तीन साल
व्यक्तिगत/स्कूल	75 रुपए	140 रुपए	200 रुपए
अन्य संस्थाएं	150 रुपए	280 रुपए	350 रुपए

संदर्भ की आजीवन सदस्यता भी उपलब्ध है:

आजीवन सदस्यता	शुल्क
व्यक्तिगत	1000 रुपए
संस्थागत	2000 रुपए

संदर्भ का सदस्यता शुल्क आप मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट से भेज सकते हैं।

चेक भेजते समय 25 रुपए अतिरिक्त भेजिए।

संपर्क करें: **एकलव्य**
कोठी बाज़ार, होशंगाबाद
पिन: 461001
फोन: 07574-253518 ई मेल: eklavyah@sify.com

कहानी

गुलेलबाज़ लड़का

भीष्म साहनी

चित्रकार : मिकी पटेल

छठी कक्षा में पढ़ते समय मेरे तरह-तरह के सहपाठी थे। एक हरबंस नाम का लड़का था जिसके सब काम अनूठे हुआ करते थे। उसे जब सवाल समझ में नहीं आता तो स्याही की दवात उठाकर पी जाता। उसे किसी ने कह रखा था कि काली स्याही पीने से अक्ल तेज़ होती है। मास्टर जी गुस्सा होकर उस पर हाथ उठाते तो बेहद ऊंची आवाज़ में चिल्लाने लगता, "मार डाला! मास्टर जी ने मार डाला!" वह इतनी ज़ोर से चिल्लाता कि आसपास की जमातों के उस्ताद बाहर निकल आते कि क्या हुआ है। मास्टर जी ठिठक कर हाथ नीचा कर लेते। यदि वह उसे पीटने लगते तो हरबंस

सीधा उनसे चिपट जाता और ऊंची-ऊंची आवाज़ में कहने लगता, "अब की माफ कर दो जी! आप बादशाह हो जी! आप अकबर महान हो जी! आप सम्राट अशोक हो जी! आप माई-बाप हो जी, मेरे दादा हो जी, परदादा हो जी!"

क्लास में लड़के हंसने लगते और मास्टर जी झेंपकर उसे पीटना छोड़ देते। ऐसा था वह हरबंस। हर आए दिन बाग में से मेंढक पकड़ लाता और कहता कि हाथ पर मेंढक की चर्बी लगा लें तो मास्टर जी के बेंत का कोई असर नहीं होता, हाथ को पता ही नहीं चलता कि बेंत पड़ा है।

एक दूसरा सहपाठी था – बोधराज। उससे हम सब डरते थे। जब वह चिहुंटी काटता तो लगता जैसे सांप ने डस लिया है। बड़ा ज़ालिम लड़का था। गली की नाली पर जब बर्रे आकर बैठते तो नंगे हाथ से वह बर्रा, पकड़कर उसका डंक निकाल लेता और फिर बर्रे की टांग में धागा बांधकर उसे पतंग की तरह उड़ाने की कोशिश करता। बाग में जाते तो फूल पर बैठी तितली को लपक कर पकड़ लेता और दूसरे क्षण उंगलियों के बीच मसल डालता। अगर मसलता नहीं तो फड़फड़ाती तितली में पिन खोंस कर उसे अपनी कापी में टांक लेता।

उसके बारे में कहा जाता था कि अगर बोधराज को बिच्छू काट ले तो स्वयं बिच्छू मर जाता है, बोधराज का खून इतना कड़वा है कि उसे कुछ भी महसूस नहीं होता। सारा वक्त उसके हाथ में गुलेल रहती और उसका निशाना अचूक था। पक्षियों के घोंसलों पर तो उसकी विशेष कृपा रहती थी। पेड़ के नीचे खड़े होकर वह ऐसा निशाना बांधता कि दूसरे ही क्षण पक्षियों की चों-चों सुनाई देती और घोंसलों में से तिनके और थिगलियां टूट-टूट कर हवा में छितरने लगते, या वह झट से पेड़ पर चढ़ जाता और घोंसलों में से अण्डे निकाल लाता। जब तक वह घोंसलों को तोड़-फोड़ न डाले उसे चैन नहीं मिलता था।

उसे कभी भी कोई ऐसा खेल नहीं सूझता था जिसमें किसी को कष्ट नहीं पहुंचाया गया हो। बोधराज की मां भी उसे राक्षस कहा करती थी। बोधराज जेब में तरह-तरह की चीज़ें रखे घूमता, कभी मैना का बच्चा, या तरह-तरह के अण्डे या कांटेदार झाऊ चूहा। उससे सभी छात्र डरते थे। किसी के साथ झगड़ा हो जाता तो बोधराज सीधा उसकी छाती में टक्कर मारता, या उसके हाथ पर काट खाता। स्कूल के बाद हम लोग तो अपने-अपने घरों को चले जाते, मगर बोधराज न जाने कहां घूमता रहता।

कभी-कभी वह हमें तरह-तरह के

किस्से सुनाता। एक दिन कहने लगा, "हमारे घर में एक 'गोह' रहती है। जानते हो 'गोह' क्या होती है?"

"नहीं तो, क्या होती है 'गोह'?"

"गोह, सांप जैसा एक जानवर होता है, बालिश्त भर लम्बा, मगर उसके पैर होते हैं, आठ पंजे होते हैं। सांप के पैर नहीं होते।"

हम सिहर उठे।

"हमारे घर में सीढ़ियों के नीचे गोह रहती है," वह बोला, "जिस चीज़ को वह अपने पंजों से पकड़ ले वह उसे कभी भी नहीं छोड़ती, कुछ भी हो जाये नहीं छोड़ती।"

हम फिर सिहर उठे।

"चोर अपने पास गोह को रखते हैं। वे दीवार फांदने के लिए गोह का इस्तेमाल करते हैं। वे गोह की एक टांग में रस्सी बांध देते हैं। फिर जिस दीवार को फांदना हो, रस्सी को झुलाकर दीवार के ऊपर की ओर फेंकते हैं। दीवार के साथ लगते ही गोह अपने पंजों से दीवार को पकड़ लेती है। उसका पंजा इतना मज़बूत होता है कि फिर रस्सी को दस आदमी भी खींचे, तो गोह दीवार को नहीं छोड़ेगी। चोर उसी रस्सी के सहारे दीवार फांद जाते हैं।"

"फिर दीवार को तुम्हारी गोह छोड़ती कैसे है?" मैंने पूछा।

"ऊपर पहुंचकर चोर उसे थोड़ा-सा दूध पिलाते हैं, दूध पीते ही गोह के पंजे ढीले पड़ जाते हैं।" इसी तरह के किस्से बोधराज हमें सुनाता।

उन्हीं दिनों मेरे पिताजी की तरक्की हुई और हम लोग एक बड़े घर में जाकर रहने लगे। घर नहीं था, बंगला था, मगर पुराने ढंग का, और शहर के बाहर। फर्श इंटों के, छत ऊंची-ऊंची और ढलवां, कमरे बड़े-बड़े, लेकिन दीवार में लगता जैसे गारा भरा हुआ है। बाहर खुली ज़मीन थी और पेड़-पौधे थे। घर तो अच्छा था मगर बड़ा खाली-खाली सा लगता था और शहर से दूर होने के कारण मेरा दोस्त-यार भी यहां पर कोई नहीं था।

तभी वहां बोधराज आने लगा। शायद उसे मालूम हो गया था कि वहां शिकार अच्छा मिलेगा, क्योंकि उस पुराने घर में और घर के आंगन में अनेक पक्षियों के घोंसले थे, आसपास बंदर घूमते थे और घर के बाहर झाड़ियों में नेवलों के दो-एक बिल भी थे। घर के पिछले हिस्से में एक बड़ा कमरा था जिसमें मां ने फालतू सामान भरकर गोदाम-सा बना दिया था। यहां पर कबूतरों का डेरा था। दिन भर गुटरगू-गूटरगूं चलती

रहती। वहीं पर टूटे रोशनदान के पास एक मैना का भी घोंसला था। कमरे के फर्श पर पंख और टूटे अंडे और घोंसलों के तिनके बिखरे रहते।

बोधराज आता तो उसके साथ घूमने निकल जाता। एक बार वह झाऊ चूहा लाया, जिसका काला थूथना और कंटीले बाल देखते ही मैं डर गया था। मां को मेरा बोधराज के साथ घूमना अच्छा नहीं लगता था, मगर वह जानती थी कि मैं अकेला घर में पड़ा-पड़ा क्या करूंगा। मां भी उसे राक्षस कहती थी और उसे बहुत समझाती थी कि गरीब जानवरों को तंग नहीं किया करे।

एक दिन मां मुझसे बोली, "अगर तुम्हारे दोस्त को घोंसले तोड़ने में मज़ा आता है तो उससे कहो कि हमारे गोदाम में से घोंसले साफ कर दे। चिड़ियों ने कमरे को बहुत गंदा कर रखा है।"

चित्रकार: मिकी पटेल
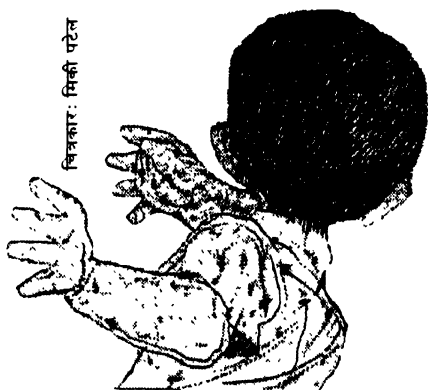
"मगर मां, तुम खुद ही तो कहती थी जो घोंसले तोड़ता है उसे पाप चढ़ता है!"

"मैं यह थोड़े ही कहती हूं कि पक्षियों को मारे। वह तो पक्षियों पर गुलेल चलाता है, उन्हें मारता है। घोंसला हटाना तो दूसरी बात है।"

चुनांचे, जब बोधराज घर पर आया तो मैं घर का चक्कर लगाकर उसे पिछवाड़े की ओर गोदाम में ले गया। गोदाम में ताला लगा था। हम ताला खोलकर अंदर गए। शाम हो रही थी और गोदाम के अंदर झुटपुटा-सा छाया था। कमरे में पहुंचे तो मुझे लगा जैसे हम किसी जानवर की मांद में पहुंच गए हों। बला की बू थी, और फर्श पर बिखरे हुए पंख और पक्षियों की बीट।

सच पूछो तो मैं डर गया। मैंने सोचा, यहां भी बोधराज अपना घिनौना शिकार खेलेगा, वह घोंसलों को तोड़-तोड़ कर गिराएगा, पक्षियों के घर नोचेगा, उनके अंडे तोड़ेगा, ऐसी सभी बातें करेगा जिनसे मेरा दिल दहलता था। न जाने मां ने क्यों कह दिया कि इसे गोदाम में ले जाओ और इससे कहो कि गोदाम में से घोंसले साफ कर दे। मुझे तो इसके साथ खेलने को भी मना करती थी और अब कह दिया कि घोंसले तोड़ो।

मैंने बोधराज की ओर देखा तो उसने गुलेल संभाल ली थी, और बड़े

चाव से छत के नीचे मैना के घोंसले की ओर देख रहा था। गोदाम की ढलवां छतें तिकोन-सा बनाती थीं, दो पल्ले ढलवां उतरते थे और नीचे एक लम्बा शहतीर कमरे के आरपार डाला गया था। इसी शहतीर पर टूटे हुए रोशनदान के पास ही एक बड़ा-सा घोंसला था, जिसमें से उभरे हुए तिनके, रुई के फाहे और लटकती थिगलियां हमें नज़र आ जाती थीं। यह मैना का घोंसला था। कबूतर अलग से, दूसरी ओर शहतीर पर गुटरगूं-गुटरगूं कर रहे थे और सारा वक्त शहतीर के ऊपर मटरगश्ती करते रहने में गुज़ारते थे।

"घोंसले में मैना के बच्चे हैं", बोधराज ने कहा और अपनी गुलेल से निशाना साध लिया।

तभी मुझे घोंसले में से छोटे-छोटे बच्चों की पीली-पीली नन्हीं चोंचें झांकती नज़र आईं।

"देखा?" बोधराज कह रहा था, "ये विलायती मैना है, इधर घोंसला नहीं बनाती। इनके मां-बाप ज़रूर अपने काफिले से बिछड़ गए होंगे और यहां आकर घोंसला बना लिया होगा।"

"इनके मां-बाप कहां हैं?" मैंने बोधराज से पूछा।

"चुग्गा लेने गए हैं। अभी आते होंगे," यह कहते हुए बोधराज ने अपनी गुलेल उठाई।

मैं उसे रोकना चाहता था कि घोंसले पर गुलेल नहीं चलाए पर तभी बोधराज की गुलेल से फर्र्रर्र की आवाज़ निकली और इसके बाद ज़ोर की टन् की आवाज़ आई। गुलेल का कंकड़ घोंसले से न लगकर सीधा छत पर जा लगा था, जहां टीन के चादरें लगी थीं।

दोनों चोंच घोंसले के बीच कहीं गायब हो गयीं। और फिर सकता-सा आ गया। लग रहा था मानों मैना के बच्चे सहमकर चुप हो गए हों।

तभी बोधराज ने गुलेल से एक और वार किया। अबकी कंकड़ शहतीर से लगा।

बोधराज अपने अचूक निशाने पर बड़ा अकड़ा करता था। दो निशाने

चित्रकार : मिकी पटेल

चूक जाने पर वह बौखला उठा, अबकी बार वह थोड़ी देर तक चुपचाप खड़ा रहा। जिस वक्त मैना के बच्चों ने अपनी चोंच फिर से उठाई और घोंसले के बाहर झांककर देखने लगे, उसी समय बोधराज ने तीसरा वार किया। अबकी कंकड़ घोंसले के किनारे पर लगा। तीन-चार तिनके और रुई के गाले उड़े और छितरा-छितरा कर फर्श की ओर उड़ने लगे। लेकिन घोंसला गिरा नहीं।

बोधराज ने फिर से गुलेल तान ली थी। तभी कमरे में एक भयानक-सा साया डोल गया। हमने नज़र उठाकर देखा। रोशनदान में से आने वाली रोशनी सहसा ढक गई थी। रोशनदान के सींखचे पर एक बड़ी-सी चील पर फैलाए बैठी थी। हम दोनों ठिठक कर उसकी ओर देखने लगे। रोशनदान में बैठी चील भयानक-सी लग रही थी। "यह चील का घोंसला होगा। चील अपने घोंसले में लौटी है।" मैंने ज़ोर से कहा।

"नहीं, चील का घोंसला यहां कैसे हो सकता है? चील अपना घोंसला पेड़ों पर बनाती है। यह मैना का घोंसला है।"

उसी वक्त घोंसले में से चों-चों की ऊंची आवाज़ आने लगी। घोंसले में बैठे मैना के बच्चे पर फड़फड़ाने और चिल्लाने लगे।

हम दोनों निश्चेष्ट से खड़े हो गए,

यह देखने के लिए कि चील अब क्या करेगी। हम दोनों टकटकी बांधे चील की ओर देखे जा रहे थे।

चील रोशनदान में से अंदर आ गई। उसने अपने पर समेट लिए थे और रोशनदान पर से उतरकर गोदाम के आर-पार लगे शहतीर पर उतर आई थी। वह अपना छोटा-सा सिर हिलाती, कभी दाएं और कभी बाएं देखने लगती। मैं चुप था, बोधराज भी चुप था, न जाने वह क्या सोच रहा था।

घोंसले में से बराबर चों-चों की आवाज़ आ रही थी, बल्कि पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ गई थी। मैना के बच्चे बुरी तरह डर गए थे।

"यह यहां रोज़ आती होगी," बोधराज बोला।

अब मेरी समझ में आया कि क्यों फर्श पर जगह-जगह पंख और मांस के लोथड़े बिखरे पड़े रहते हैं। ज़रूर हर आए दिन चील घोंसले पर झपट्टा मारती होगी। मांस के टुकड़े और खून-सने पर इसी की चोंच से गिरते होंगे।

बोधराज अभी भी टकटकी बांधे चील की ओर देख रहा था।

अब चील धीरे-धीरे शहतीर पर चलती हुई घोंसले की ओर बढ़ने लगी थी और घोंसले में बैठे मैना के बच्चे पर फड़फड़ाने और चीखने लगे थे। जब से चील रोशनदान पर आकर बैठी थी, मैना के बच्चे चीखे जा रहे थे। बोधराज अब भी मूर्तिवत खड़ा चील की ओर ताके जा रहा था।

मैं घबरा उठा। मैं मन में बार-बार कहता, 'क्या फर्क पड़ता है अगर चील मैना के बच्चों को मार डालती है या बोधराज अपनी गुलेल से उन्हें मार डालता है? अगर चील नहीं आती तो इस वक्त तक बोधराज ने मैना का घोंसला नोच भी डाला होता।'

तभी बोधराज ने गुलेल उठाई और सीधा निशाना चील पर बांध दिया।

"चील को मत छेड़ो, वह तुम पर झपटेगी।" मैंने बोधराज से कहा।

मगर बोधराज ने नहीं सुना और गुलेल चला दी। चील को निशाना नहीं लगा। कंकड़ छत से टकरा कर नीचे गिर पड़ा और चील ने अपने बड़े-बड़े पंख फैलाए और नीचे सिर किए घूरने लगी।

"चलो यहां से निकल चलें," मैंने डरकर कहा।

"नहीं! हम चले गए तो चील बच्चों को खा जाएगी।"

उसके मुंह से यह वाक्य मुझे बड़ा अटपटा लगा। अभी कुछ देर पहले खुद तो घोंसला तोड़ने के लिए गुलेल उठा लाया था।

बोधराज ने एक और निशाना बांधा। मगर चील उस शहतीर पर से

उड़ी और गोदाम के अंदर पर फैलाए तैरती हुई-सी आधा चक्कर काटकर फिर से शहतीर पर जा बैठी। घोंसले में बैठे बच्चे बस लगातार चों-चों किए जा रहे थे।

बोधराज ने झट से गुलेल मुझे थमा दी और जेब में से पांच सात कंकड़ निकाल कर मेरी हथेली पर रखे। "तुम चील पर गुलेल चलाओ। चलाते जाओ, उसे बैठने नहीं देना," उसने कहा और स्वयं भागकर दीवार के साथ रखी मेज़ को घसीटकर फर्श के बीचों-बीच लाने लगा।

मैं गुलेल चलाना नहीं जानता था। दो-एक बार मैंने कंकड़ रखकर गुलेल चलाई लेकिन इस बीच चील गोदाम के दूसरे शहतीर पर जा बैठी थी।

बोधराज मेज़ को घसीटता हुआ ऐन मैना के घोंसले के नीचे ले आया। फिर उसने मेज़ पर एक टूटी हुई कुर्सी चढ़ा दी और फिर उछलकर मेज़ पर चढ़ गया और वहां से कुर्सी पर जा खड़ा हुआ। फिर बोधराज ने दोनों हाथ ऊपर को उठाए, जैसे-तैसे अपना संतुलन बनाए हुए उसने धीरे से दोनों हाथों से घोंसले को शहतीर पर से उठा लिया और धीरे-धीरे कुर्सी पर से उतर कर मेज़ पर आ गया और घोंसले को थामे-थामे छलांग लगा दी।

"चलो, बाहर निकल चलो," उसने कहा और दरवाज़े की ओर लपका।

गोदाम में से निकल कर हम गराज में आ गए। गराज में एक ही बड़ा दरवाज़ा था और दीवार में छोटा-सा एक झरोखा। यहां भी गराज के आरपार लकड़ी का एक शहतीर लगा था।

"यहां पर चील नहीं पहुंच सकती," बोधराज ने कहा और इधर-उधर देख कर बक्से पर चढ़ कर घोंसले को एक टूटे शहतीर के ऊपर रख दिया।

थोड़ी देर में घोंसले में बैठे मैना के बच्चे चुप हो गए। बोधराज बक्से पर चढ़कर मैना के घोंसले में झांकने लगा। मैंने सोचा, अभी हाथ बढ़ाकर दोनों बच्चों को एक साथ उठा लेगा, जैसा वह अक्सर किया करता था, फिर भले ही उन्हें जेब में डालकर घूमता फिरे। मगर उसने ऐसा कुछ नहीं किया। वह देर तक घोंसले के अंदर झांकता रहा और फिर बोला, "थोड़ा पानी लाओ, इन्हें प्यास लगी है। इनकी चोंच में बूंद-बूंद पानी डालेंगे।"

मैं बाहर गया और एक कटोरी में थोड़ा-सा पानी ले आया। दोनों नन्हें-नन्हें बच्चे चोंचें ऊपर को उठाए हांफ रहे थे। बोधराज ने उनकी चोंच में बूंद-बूंद पानी डाला और बच्चों को छूने से मुझे मना कर दिया, न ही स्वयं उन्हें छुआ।

"इन बच्चों के मां-बाप यहां कैसे पहुंचेंगे?" मैंने पूछा।

"वे इस झरोखे में से आ जाएंगे।

वे अपने-आप इन्हें ढूंढ निकालेंगे।"

हम देर तक गराज में बैठे रहे। बोधराज देर तक मनसूबे बनाता रहा कि वह कैसे रोशनदान को बंद कर देगा, ताकि चील कभी गोदाम के अंदर न आ सके। उस शाम वह चील की ही बातें करता रहा।

दूसरे दिन जब बोधराज मेरे घर आया तो न तो उसके हाथ में गुलेल थी और न जेब में कंकड़, बल्कि जेब में बहुत-सा चुग्गा भरकर लाया था और हम दोनों देर तक मैना के बच्चों को चुग्गा डालते और उनके करतब देखते रहे थे।

भीष्म साहनी: (1915–2003) रावलपिंडी में पैदा हुए। पत्रकारिता, अध्यापन, नाटक मंडली में काम के साथ-साथ साहित्य लेखन भी किया। इप्टा, प्रगतिशील लेखक संघ, अफ्रो-एशियाई लेखक संघ जैसे संगठनों को मज़बूती प्रदान की।

उनकी प्रमुख रचनाएं भाग्यरेखा, कुंतो, भटकती राख, तमस, हानूश, कबिरा खड़ा बाज़ार में आदि हैं। भीष्म साहनी का हाल में निधन हुआ है।

यह कहानी नेशनल बुक ट्रस्ट, द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'तेरह अनुपम कहानियां' से साभार।

चित्रकार: मिकी पटेल।

कुछ नया सोचते थे त्रिवेदी सर

सुरेश कुमार शुक्ला

सातवीं कक्षा में हमें त्रिवेदी सर हिन्दी विषय पढ़ाते थे। भाषा सीखने को लेकर वे थोड़ी अलग सोच रखते थे। वे सिर्फ पाठ्य-पुस्तकों तक सीमित नहीं रहते थे बल्कि लड़कों को कहानी, लेख-निबंध लिखने, तुकबंदी करने आदि के लिए लगातार प्रोत्साहित करते रहते थे। वे अक्सर कहते भी थे कि पाठ्य-पुस्तक पढ़ने से भाषा नहीं सीखी जा सकती।

त्रिवेदी सर कक्षा में काफी रोचक गतिविधियां करवाते थे। कभी खुद दो पंक्तियों की तुकबंदी करते, और फिर उसे आगे बढ़ाने के लिए हमसे कहते। तो कभी 'यदि मैं स्कूल का चपरासी होता' विषय पर निबंध लिखने के लिए कहते। वैसे उनकी कोशिश होती थी कि कक्षा के हरेक विद्यार्थी को लिखने के लिए अलग-अलग विषय दिए जाएं।

वे एक और तरीका अपनाते थे – विद्यार्थियों से जानकारी खोजकर लाने के लिए कहा जाता था। इस गतिविधि में होता यह था कि विद्यार्थी को विविध विषय दिए जाते थे जैसे – मिश्रा सर संस्कृत के शिक्षक कैसे बने, स्कूल का चपरासी रामलाल इस स्कूल में कैसे आया, किसी टाकीज़ का, मोहल्ले का, स्कूल का इतिहास, किसी दुकानदार का इंटरव्यू, स्कूल की समस्याओं के बारे में किसी शिक्षक से बातचीत, शहर में गिर रहे खेल स्तर के संबंध में खेल शिक्षक से बातचीत। यह ज़रूरी नहीं था कि प्रत्येक छात्र उस जानकारी को मालूम करने में सफल हो ही पाएगा। बहुत संभव था कि स्कूल का स्टाफ त्रिवेदी जी की इन गतिविधियों को गहराई से न समझ रहा हो, जिसकी वजह से कई बार अन्य शिक्षक छात्रों से सहयोग भी नहीं करते थे।

ऐसे ही एक अभ्यास में मुझे 'शहर के एक टाकीज़ का इतिहास' पता करना था। मैं शहर के एक टाकीज़ पहुंचा, डोर-कीपर मुझे टाकीज़ के मैनेजर के पास ले गया। मैनेजर काफी सहृदय व्यक्ति थे। उन्होंने मेरे आने का मकसद

जानने के बाद कहा, "तुम सवाल पूछो, जितना मुझे मालूम है मैं बताता जाऊंगा।" मैंने अपनी समझ के हिसाब से टाकीज़ कब बनी, इसके मालिक कौन थे, वर्तमान मालिक कौन हैं, इसमें सबसे पहले कौन-सी फिल्म प्रदर्शित हुई थी, टाकीज़ में किन-किन श्रेणियों में कितने दर्शकों के बैठने की व्यवस्था है, वर्तमान टिकिट दर, टाकीज़ में कितने कर्मचारी काम करते हैं, वगैरह जैसे खूब सारे सवालात किए। इनमें से कुछ सवालों के जवाब मैनेजर के पास भी नहीं थे क्योंकि वे भी इस टाकिज़ में कुछ साल पहले ही आए थे।

फिर भी मेरे लिए यह अनोखा अनुभव था। मैंने जानकारी को सिलसिलेवार जमाकर टाकीज़ का इतिहास कक्षा में प्रस्तुत किया। इसी तरह मेरे एक सहपाठी ने 'मिश्रा सर संस्कृत के शिक्षक कैसे बने' इस संबंध में जानकारी प्रस्तुत की। एक अन्य साथी ने 'मेवालाल बढ़ई अपनी रोज़ी-रोटी कैसे चलाता है' इस बारे में जो भी जानकारी इकट्ठी की थी, उसे सबके सामने रखा।

आज मैं सोचता हूं कि भाषा सीखने के इस तरीके के कारण मुझमें काफी आत्मविश्वास आ गया जो मात्र पाठ्य-पुस्तकों को पढ़ने से शायद ही आ पाता। पाठ्य-पुस्तकों के विषयों से हटकर अपनी बात को कहने का तरीका भी पता चला। मुझे अभी भी यह महसूस होता है कि पाठ्य-पुस्तकों में इस तरह की गतिविधियों की गुंजाइश होनी चाहिए या शिक्षकों को ऐसी गतिविधियों के लिए समय निकालना चाहिए, ताकि बच्चे एक तयशुदा ढर्रे से बाहर निकलकर अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बना सकें।

सुरेश कुमार शुक्ला: जबलपुर की एक शाला में शिक्षक हैं।

तू डाल डाल तो हम पात पात

जैव विकास की लगातार चलती प्रक्रिय के दौरान शिकारी से बचने के लिए विभिन्न जंतुओं में अलग-अलग तरह की क्षमताएं व तरीके विकसित हुए हैं। इस बार हम जिस तरीके का ज़िक्र कर रहे हैं उसे मिमिक्री या नकल उतारना कहते हैं। ये क्षमता कुछ ही जंतुओं में पाई जाती है।

मिमिक्री का एक बढ़िया उदाहरण 'स्नेक केटरपिलर' है। वैसे तो यह 2 इंच से 6 इंच लंबाई का कुछ विशेष पतंगों का साधारण इल्लीनुमा लार्वा होता है। परन्तु अचानक छूने पर इसका आगे का हिस्सा सांप जैसी शक्ल अख्तियार कर लेता है, जिसके तिकाने सिर पर असली आंखों जैसे बड़े-बड़े धब्बे भी बने होते हैं। यही नहीं, यह सांपनुमा रचना उचककर छूनेवाली वस्तु को डंसने की कोशिश भी करती है।

पेड़-पौधों की टहनियों पर मौजूद 'स्नेक केटरपिलर' को कोई भी साधारण इल्ली ही समझेगा। लेकिन अचानक होनेवाले स्पर्श से खतरा भांपकर जब यह टहनी से लटक जाता है तो उसके शरीर का अगला हिस्सा तिकोने सिर वाले 'मेक्सिकन वाइन स्नेक' की तरह दिखाई देने लगता है। यह स्वांग शायद गिरगिट से बचने में ज़्यादा कारगर होता होगा क्योंकि यह सांप गिरगिट को बहुत चाव से खाता है। गिरगिट शायद इस इल्ली को सांप समझकर भाग खड़ा होता होगा क्योंकि वह सांप का भोजन नहीं बनना चाहता। तो 'स्नेक केटरपिलर' को थोड़ी देर के लिए सांप जैसी नकल करने का फायदा यह मिलता है कि शिकारी से बच पाने की उसकी संभावना बढ़ जाती है। इस तरीके की खासियत यह है कि एक जीव ने किसी दूसरे जीव के स्वरूप यानी रंगरूप की नकल उतारी है।

लेकिन इन छुट-पुट प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि ये नकलची जीव, नकल के सहारे, हमेशा शिकार होने से बचे रहते हैं, शायद सही नहीं होगा। आपने शायद सुना होगा कि मोनार्क तितली में ज़हर पाया जाता है जिसकी वजह से कई पक्षी उन्हें खाना पसंद नहीं करते। मोनार्क से मिलती-जुलती कई तितलियां भी इसी बहाने बच जाती थीं। लेकिन मेक्सिको के कुछ पक्षियों ने मोनार्क और उनसे मिलती-जुलती तितलियों में फर्क करना सीख लिया इसलिए वे ऐसी तितलियों को चोंच मारकर 'चख' लेते हैं कि इनमें ज़हर है या नहीं – ज़हरीली है तो फेंक दिया, नहीं तो खा लिया। ऐसे ही कुछ पक्षी कम ज़हरीली मोनार्क के उन हिस्सों को खा लेते हैं जहां ज़हर की मात्रा कम है। यानी शिकार और शिकारी 'तू डाल डाल तो हम पात पात' वाली कहावत चरितार्थ करते हैं।

मिमिक्री का एक बढ़िया उदाहरण 'स्नेक केटरपिलर' है। स्नेक केटरपिलर को कोई भी साधारण इल्ली ही समझेगा। लेकिन अचानक होनेवाले स्पर्श से खतरा भांपकर जब यह टहनी से लटक जाती है तो उसके शरीर का अगला हिस्सा तिकोने सिर वाले 'मेक्सिकन वाइन स्नेक' की तरह दिखाई देने लगता है। स्नेक केटरपिलर को सांप जैसी नकल करने का फायदा यह मिलता है कि शिकार होने से बच पाने की उसकी संभावना बढ़ जाती है।

एकलव्य की ओर से राजेश खिंदरी द्वारा भंडारी ऑफसेट प्रिंटर्स, ई-3/12, अरेरा कॉलोनी, भोपाल से मुद्रित एवं एकलव्य ई-7/453 एच. आई. जी., अरेरा कॉलोनी, भोपाल 462016 से प्रकाशित। संपादक - राजेश खिंदरी